ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद—भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण—निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम धीरवीर चिरप्रतापि श्री
मयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत आवणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Aryan man,

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पाण्डेय बदरीप्रसाद शर्म्म प्रबन्धेन
प्रयागनगरे नारायण यन्त्रालये मुद्रितः ।

द्वितीयावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । | संवत् १९८२ वि० सन् १९२५ ई० । | मूल्यम् १।=)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

प्रथम काण्ड की आवृत्ति ॥

प्रथम वार, दिसंबर १९१२, १००० पुस्तक। ओंकार प्रेस, प्रयाग।
द्वितीय वार, नोवेम्बर १९२५, १००० पुस्तक, नारायण प्रेस, प्रयाग।

विषय सूची ।

सङ्केत सूची ।

सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व	अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र ।
अव्य०	अव्यय ।
आ० प०	आत्मने पदी ।
उ०	उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित) ।
ऋ०	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र ।
क्रि०	क्रिया ।
त्रि०	त्रिलिङ्ग (विशेषण) ।
न०	नपुंसकलिङ्ग ।
नि०, निरु०	निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।
निघ०	निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत) ।
प० प०	परस्मैपदी ।
पा०	पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र ।
पु०	पुंलिङ्ग ।
पृषो०	पृषोदरादि ।
य०, यजुः	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र ।
श० क० द्रु०	शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा राधाकान्तदेवबहादुर विरचित ।
श०स्तो०म०नि०	शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित ।
सा० वे०	सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र । उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच ।
( )	इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं ।
[ ]	ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं ।
०—...	अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद करलें, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ ।

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी अथर्ववेद तथा गोपथ ब्राह्मण आदि भाष्यकार
जन्म कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ वि०

मुद्रित कार्तिक शुक्ला ७ सं० १९८१ वि०

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग ।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥

१–ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है। (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (जेष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमात्मन् ! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं। हे प्रभु ! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर ! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनः) दृढ़

बुद्धि वाले, (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तया) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक, विवेकी, परोपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उस का प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२—वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे । छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । ९, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १९ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये। (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है॥

यस्मा॒दृचो॑ अ॒पात॑क्ष॒न् यजु॒र्यस्मा॑द॒पाक॑षन्। सामा॑नि॒ यस्य॒ लोमा॑न्यथर्वाङ्गि॒रसो॒ मुख॑म्। स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः॥ २॥

अथर्व० का० १०। सू० ७। म० २०॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुण प्रकाशक मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी, पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतमःस्वित्) कौन सा है। [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभे के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्ववेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं।

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया। यह चारों वेद एक तो सांसारिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं। संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है। इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं, जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है ।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद–का० ११, सू० ५, म० १७ ।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है । (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुंच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं–वैशेषिकदर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं ।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च । वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम् । लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम् ॥

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक । वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है । लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं ।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः ।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२।१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति ॥२॥१२।९७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र,] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक], चार आश्रम [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत्, अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥३॥ १२ । १०८ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ४ ॥ १२। १०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे, वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है । जर्मनी, इंग देश आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है । वेदों के भिन्न २ भागों के अनुवाद भी अंग्रेज़ी, लेटिन, जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं । भट्ट ग्रिफ़िथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है । महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है । उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं ।

१—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका।
२—ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है]॥
३—यजुर्वेदभाष्य।
४—सत्यार्थप्रकाश।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं॥

३—अथर्ववेद॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है। उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं। इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं। (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है। थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है। (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है। (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं। (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है॥

---

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११। १८। स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति अ+थर्व चरणे-वनिप्। वकारलोपः। न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः। हलश्च। पा० ३। ३। १२१। इति विद ज्ञाने-घञ्। इति वेदो ज्ञानम्। अथर्वणो दृढस्वभावस्य परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः॥

(२) चन्देरादेश्च छः। उ० ४। २१९। इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य छः। चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः॥

(३) अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च। उ० ४। २२६। इति अगि गतौ—असि, इरुट् आगमः। अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः, वेदः। अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः॥

(४) बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ-मनिन्। नकारस्य अकारः, रत्वं च। बृंहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः। ब्रह्मणो वेदो ब्रह्मवेदः॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डबिल्यू० डी० व्हिटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं। श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उस के चार देष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इससे बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है।

४—अथर्ववेद विस्तार॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १—सायणभाष्य सहित बम्बई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २—पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३—अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित। हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है। विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है।

अथर्ववेद (ये त्रिषप्ताः परियन्ति....) इस मन्त्र से लेकर [पुनाय्यं तदश्विना कृतं वां....] इस मन्त्र तक है। इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,९७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं। यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चक्रों में वर्णित है।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद है।

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान।

	उक्त पुस्तक में मन्त्र		अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
	काण्ड ८।			
सूक्त १०। पर्याय १।	मन्त्र १ से ७=७	=	१३	—६
,, ,, ३।	म० १८ से २१=४	=	८	—४
,, ,, ४।	म० २२ से २५=४	=	१६	—१२
,, ,, ५।	म० २६ से २९=४	=	१६	—१२
	योग १९		५३	—३४

काण्ड ६।

सूक्त ६। पर्याय ४।	म० ४० से ४४=५ =	१०		—५
,, ,, ५।	म० ४५ से ४८=४ =	६०		—६
	योग ६	२०		—११

काण्ड १६।

सूक्त ३८।	म० १ से २ = २ =	३	—१
,, ४७।	म० १ से १०=१० =	६	+१
,, ५४।	म० ५, ६ = २ =	१ (म० ५)	+१
,, ५५।	म० १ से ७ = ७ =	६	+१
,, ५७।	म० १ से ६ = ६ =	५	+१
	योग २७	२४	+३

काण्ड २०।

सूक्त ६६।	म० १-२३=२३ =	२४	—१
सूक्त १३१।	म० १-२३=२३ =	२०	+३
	योग ४६	४४	+२
	महा योग १०१	१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्। यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते विवृहामसि।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ६६ का मन्त्र १६ उस में नहीं है। अन्य ३६ मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तो मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है।. इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,६७७-४०=५,६३७ होते हैं॥

(आ)-वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्य्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४९ तक आ चुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्रके ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्य में एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट ग्रिफ़िथ के अँगरेज़ी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है। इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५–सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५९ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

काण्ड जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
९	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	९	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६–अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इससे अनुवाकों की गणना को यहां नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७–सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेद संहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बंबई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है-काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक], ११, १७, १८, १९, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है-काण्ड ५, ८ [सूक्त ७-७५], ९, १०, १२, १३, १४, १५, १६, २० (सूक्त ३८-१४३)] ॥

८-अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई, चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८९५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८९८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल, पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित-बंबई, सन् १८९३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता, मूल, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, संवत् १९५८ विक्रमीय [सन् १९०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेज़ी अनुवाद, मट्ट ग्रिफ़्फ़िथ साहिब कृत दो वेष्टन, वेष्टन १ सन् १८९५, वेष्टन २ सन् १८९६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री मद्दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, पण्डित तुलसीराम कृत सामवेद भाष्य, यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त, और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१—देवता, छन्द, उपदेश ।

२—मूलमन्त्र-स्वरसहित ।

३—पदपाठ-स्वरसहित ।

४—सान्वय भावार्थ ।

५—भाषार्थ ।

६—आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण।

७—शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्याय आदि।

सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दियी है।

९—ऋषि, देवता, छन्द।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्हों ने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १। २०। तथा २। ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७। १], मिताक्षर वाक्य छन्द कहाते हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और साम वेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं। हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं। ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका। [टिप्पणी–द्वितीय आवृत्ति में अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका सम्पादित पं० रामगोपाल शास्त्री लाहौर मुद्रित संवत् १९७९ वि०, सन् १९२२ ई० से ऋषि भी लिख दिये हैं—क्षे० दा० त्रिवेदी, भाद्रपद संवत् १९८२।]

१०—निवेदन।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें। भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं। मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्पमूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूं, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें। और यदि वैदिक जिज्ञासु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा।

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद)।
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६९ वि०,
५ सितम्बर १९१२।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी।
जन्म, कार्त्तिकशुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़॥

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १		२९	६	२०	५	१०	१३	५	७	३५	७
१	४	३०	४	२१	५	११	८	६	८	३६	१०
२	४	३१	४	२२	५	१२	९	७	७	३७	१२
३	९	३२	४	२३	५	१३	७	८	७	३८	७
४	४	३३	४	२४	८	१४	६	९	१०	३९	१०
५	४	३४	५	२५	५	१५	८	१०	७	४०	८
६	४	३५	४	२६	५	१६	७	११	१२	४०	३२४
७	७	३५	१५३	२७	७	१७	९	१२	७	काण्ड ५	
८	४	काण्ड २		२८	५	१८	६	१३	७	१	९
९	४	१	५	२९	७	१९	८	१४	९	२	९
१०	४	२	५	३०	५	२०	१०	१५	१६	३	११
११	६	३	६	३१	५	२१	१०	१६	९	४	१०
१२	४	४	६	३२	६	२२	६	१७	८	५	९
१३	४	५	७	३३	७	२३	६	१८	८	६	१४
१४	४	६	५	३४	५	२४	७	१९	८	७	१०
१५	४	७	५	३५	५	२५	६	२०	९	८	९
१६	४	८	५	३६	८	२६	६	२१	७	९	८
१७	४	९	५	३६	२०७	२७	६	२२	७	१०	८
१८	४	१०	८	काण्ड ३		२८	६	२३	७	११	११
१९	४	११	५	१	६	२९	८	२४	७	१२	११
२०	४	१२	८	२	६	३०	७	२५	७	१३	११
२१	४	१३	५	३	६	३१	११	२६	७	१४	१३
२२	४	१४	६	४	७	३१	२३०	२७	७	१५	११
२३	४	१५	६	५	८	काण्ड ४		२८	७	१६	११
२४	४	१६	५	६	८	१	७	२९	७	१७	१८
२५	४	१७	७	७	७	२	८	३०	८	१८	१५
२६	४	१८	५	८	६	३	७	३१	७	१९	१५
२७	४	१९	५	९	६	४	८	३२	७	२०	१२
२८	४							३३	८		
								३४	८		

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४२	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	काण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
३१	३७६	२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
काण्ड ६		२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
		२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
१	३	३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
२	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
३	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
४	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
५	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
६	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
७	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
८	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
९	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
१०	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
११	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
१२	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१३	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१४	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१५	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
		४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
२२	२
२३	१
२४	१
२५	२
२६	८
२७	१
२८	१
२९	२
३०	१
३१	१
३२	१
३३	१
३४	१
३५	३
३६	१
३७	१
३८	५
३९	१
४०	२
४१	२
४२	२
४३	१
४४	१
४५	२
४६	३
४७	२
४८	२
४९	२
५०	९
५१	१

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
५२	२
५३	७
५४	२
५५	१
५६	८
५७	२
५८	२
५९	१
६०	७
६१	२
६२	१
६३	१
६४	२
६५	३
६६	१
६७	१
६८	३
६९	१
७०	५
७१	१
७२	३
७३	११
७४	४
७५	२
७६	६
७७	३
७८	२
७९	४
८०	४
८१	६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
८२	६
८३	४
८४	३
८५	१
८६	१
८७	१
८८	१
८९	४
९०	३
९१	१
९२	१
९३	१
९४	१
९५	३
९६	१
९७	८
९८	१
९९	१
१००	१
१०१	१
१०२	१
१०३	१
१०४	१
१०५	१
१०६	१
१०७	१
१०८	२
१०९	७
११०	३
१११	१
११२	२
११३	२
११४	२
११५	४

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
११६	२
११७	१
११८	१
११८	२८६

काण्ड ८	
१	२१
२	२८
३	२६
४	२५
५	२२
६	२६
७	२८
८	२४
९	२६
१०(१)	१३
(२)	१०
(३)	८
(४)	१६
(५)	१६
(६)	४
१०	२९३

काण्ड ९	
१	२४
२	२५
३	३१
४	२४
५	३८
६(१)	१७
(२)	१३
(३)	९
(४)	१०
(५)	१०
(६)	१४
७	२६
८	२२
९	२२
१०	२८
१०	३१३

काण्ड १०	
१	३२
२	३३
३	२५
४	२६
५	५०
६	३५
७	४४
८	४४
९	२७
१०	३४
१०	३५०

काण्ड ११	
१	३७
२	३१
३	५६
४	२६
५	२६
६	२३
७	२७
८	३४
९	२६
१०	२७
१०	३१३

काण्ड १२	
१	६३
२	५५
३	६०
४	५३
५	७३
५	३०४

काण्ड १३	
१	६०
२	४६
३	२६
४	५६
४	१८८

काण्ड १४	
१	६४
२	७५
२	१३९

सूक्त	मंत्र
काण्ड १५	
१	८
२	२८
३	११
४	१८
५	१६
६	२६
७	५
८	३
९	३
१०	११
११	११
१२	११
१३	१४
१४	२४
१५	९
१६	७
१७	१०
१८	५
१८	२२०
काण्ड १६	
१	१३
२	६
३	६
४	७
५	१०
६	११
७	१३
८	३३
९	४
९	१०३
काण्ड १७	
१	३०
१	३०
काण्ड १८	
१	६१
२	६०
३	७३
४	८९
४	२८३
काण्ड १९	
१	३
२	५
३	४
४	४
५	१
६	१६
७	५
८	७
९	१४
१०	१०
११	६
१२	१
१३	११
१४	१
१५	६
१६	२
१७	१०
१८	१०
१९	११
२०	४
२१	१
२२	२१
२३	३०
२४	८
२५	१
२६	४
२७	१५
२८	१०
२९	९
३०	५
३१	१४
३२	१०
३३	५
३४	१०
३५	५
३६	६
३७	४
३८	३
३९	१०
४०	४
४१	१
४२	४
४३	८
४४	१०
४५	१०
४६	७
४७	९
४८	६
४९	१०
५०	७
५१	२
५२	५
५३	१०
५४	५
५५	६
५६	६
५७	५
५८	६
५९	३
६०	२
६१	१
६२	१
६३	१
६४	४
६५	१
६६	१
६७	८
६८	१
६९	४
७०	१
७१	१
७२	१
७२	४५३
काण्ड २०	
१	३
२	४
३	३
४	३
५	७
६	९
७	४
८	३
९	४
१०	२
११	११
१२	७
१३	४
१४	४
१५	६
१६	१२
१७	१२
१८	६
१९	७
२०	७
२१	११
२२	६
२३	९
२४	९
२५	७
२६	६
२७	६
२८	४
२९	५
३०	५
३१	५
३२	३
३३	३
३४	१८
३५	१६
३६	११
३७	११
३८	६
३९	५
४०	३
४१	३
४२	३
४३	३
४४	३
४५	३
४६	३
४७	२१
४८	६
४९	७
५०	२
५१	४
५२	३
५३	३
५४	३
५५	३
५६	६
५७	१६
५८	४
५९	४
६०	६
६१	६
६२	१०

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	९	७७	८	९१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	९२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	९३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	९
६६	३	८०	२	९४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	९५	४	१०९	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	९६	२४	११०	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	९७	३	१११	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	९८	२	११२	३	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	९९	२	११३	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	१००	३	११४	२	१३२	१६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११५	३	१३३	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११६	२	१३४	६		
७५	३	८९	११	१०३	३	११७	३	१३५	१३		
७६	८	९०	३	१०४	४	११८	४	१३६	१६		
						११९	२	१३७	१४		
						१२०	२	१३८	३		
						१२१	२	१३९	५		
						१२२	३	१४०	५	१४३	९५८

योगचक्र ।

काण्ड	सूक्त	मंत्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	९	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२९३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३९	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	९५८
५	१७३	१२९०	५	२९०	१६९६	५	३९	११६४	५	२२९	१८२७

महायोग, काण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५,९७७ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ये त्रिषता परियन्ति	वाचस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विद्मा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विद्मा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	,,	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि, सोम	तथा	,, ,,
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्पत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वषट् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्म रक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	सं संस्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मा नो विदन् वि व्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	,,
२३	नक्तं जातास्योषधे	ओषधि	रोग नाश	,,
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	,,	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाद्देवो अग्नी	अग्नि	,,	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	,,
३०	विश्वे देवो वसवो	विश्वे देवा	,,	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायें	त्रिष्टुप्
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	त्रिष्टुप्
३५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप्

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ।

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त, मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४ । १	१ । २३ । १६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४ । २	१ । २३ । १७		
३	अपो देवीरुप ह्वये	४ । ३	१ । २३ । १८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४ । ४	१ । २३ । १९	९ । ६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५ । १	१० । ९ । १	११।५०-५२	
६	यो वः शिवतमो	५ । २	१० । ९ । २	तथा	उ०९।२।१०
७	तस्मा अरं गमाम वो	५ । ३	१० । ९ । ३	३६।१४-१६	
८	ईशाना वार्याणां	५ । ४	१० । ९ । ५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६ । १	१।२३।२०,२१	३६ । १२	पू०१।३।१३
१०	अप्सु मे सोमो	६ । २	१० । ९ । ४, ६		
११	आपः पृणीत भेषजं	६ । ३	१० । ९ । ७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१९ । ३,४	६ । ७५ । १९		उ० ९।३।८
१३	वि महच्छर्म यच्छ	२० । ३	१० । १५२ । ५		
१४	शास इत्था महां असि	२० । ४	१० । १५२ । १		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१ । १	१० । १५२ । २		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१ । २	१० । १५२ । ३		उ० ९।३।७
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१ । ३	१० । १५२ । ४		
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१ । ४	१० । १५२ । ५		
१९	शुकेषु ते हरिमाणं	२२ । ४	१ । ५० । १२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२९ । १	१० । १७४ । १		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२९ । २	१० । १७४ । २		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२९ । ३	१० । १७४ । ३		
२३	उदसौसूर्यो अगादुदिदं	२९ । ५	१० । १५९ । १		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२९ । ६	१० । १७४ । ५		
२५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	३५ । १	—	३४ । ५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	३५ । २	—	३४ । ५१	

ओ३म्।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४। अथर्वा ऋषिः। वाचस्पतिर्देवता। अनुष्टुप्छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

ये। त्रि-सप्ताः। परि-यन्ति। विश्वा। रूपाणि। बिभ्रतः।
वाचः। पतिः। बला। तेषाम्। तन्वः। अद्य। दधातु। मे ॥१॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्वा, २—रक्षणीय जगत् [यद्वा—तीन से सम्बन्धी ३-तीनों काल भूत, वर्तमान और भविष्यत्। ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक। ५-तीनों गुण, सत्त्व, रज और तम। ६-ईश्वर, जीव,

---

१-शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ये) पदार्थाः। (त्रि-सप्ताः) तरतेर्ड्रिः। उ० ५। ६६। इति तॄ तरणे—ड्रि। तरति तारयति तार्यते वा त्रिः।

और प्रकृति। यद्वा, तीन और सात=दस। ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की ओर एक नीचे की दिशा। ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ। यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस। ९-महाभूत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रिय ५+कर्म इन्द्रिय ५+अन्तःकरण १ इत्यादि] के सम्बन्ध में [वर्त्तमान] हो कर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं। (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीर के (बला=बलानि बलों को (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे ॥ १ ॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और

परमेश्वरो जगद्वा। संख्यावाची वा। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ० १। १५७। इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च। सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा। यद्वा, षप समवाये-क्त। त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेण जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः। यद्वा। त्रयश्च सप्त चेति त्रिषप्ता दश दिशाः। यद्वा। त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः। डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। वार्तिकम्, पा० ५। ४। ७३। इति समासे डच्। विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते (परि-यन्ति) इण् गतौ—लट्। परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति (विश्वा) अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति विश प्रवेशे-क्वन्। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शेर्लोपः। विश्वानि। सर्वाणि (रूपाणि) खष्प शिल्प शष्प वष्परूपपर्पतल्पाः। उ० ३। २८। इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते तद् रूपम्। यद्वा, रूप रूपकरणे—अच्। सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि (बिभ्रतः) डुभृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। इति नुमः प्रतिषेधः। धारयन्तः। पोषयन्तः (वाचः) क्विब् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २। ५७। इति वच् वाचि—क्विप्। दीर्घश्च। वाण्याः। वेदात्मिकायाः (पतिः) पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे—डति। रक्षकः। सर्वगुरुः परमेश्वरः (वाचस्पतिः)—षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सत्वम् (बला) बल हिंसे जीवने

उस अन्तर्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥ १ ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।

वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह । वसोः । पते । नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥२॥

भाषार्थ—(वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) बारंबार (एहि) आ। (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुण के रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में [वर्त्तमान] (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥ २ ॥

च—पदाद्यच्। पूर्ववत् शेर्लोपः। बलानि (तेषाम्) त्रिसप्तानां पदार्थानाम् (तन्वः) भृमृशीङ्०। उ० १।७। इति तनु विस्तृतौ—उ प्रत्ययः। ततः स्त्रियाम् ऊङ्। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य। पा० ८।२।४। इति विभक्तेः स्वरितः, उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते। तन्वाः शरीरस्य (अद्य) सद्यः परुत्परार्यैषमः०। पा० ५।३।२२। इति इदम् शब्दस्य अश्भावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते। अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले (दधातु) डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट्। जुहोत्यादिः। शपः श्लुः। धारयतु, स्थापयतु, ददातु (मे) मह्यम्, मदर्थम्।

२—(पुनः) पनाय्यते स्तूयत इति। पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वं पृषोदरादित्वात्। अवधारणेन। वारंवारम् (आ+इहि) आ+इण् गतौ लोट्। आगच्छ (वाचः+पते) मं० १। हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन्। वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा-निरु० १०।१७ (देवेन) नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्क मुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ "वाचःपाता वा पालयिता वा"—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है—निरु० १० । १७ । और निरु० १० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरामय मय्येव तन्वं १ मम ॥ १ ॥

हे वाणी के स्वामी तू बारम्बार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ मेंही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १-६ भी हृदयस्थ करने चाहियें ।

इहैवाभि वितंनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभे इति । आर्त्नी इवेत्यार्त्नी इव । ज्यया । वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । एव । अस्तु । मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारो ओर से (वि तनु)

पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच् । दिव्येन, द्योतकेन, प्रकाशमयेन (मनसा) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने असुन् । चित्तेन, अन्तःकरणेन (वसोः) शृस्वृस्निहीति । उ० १ । १० । इति वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य (पते) मं० १ । पालयितः, स्वामिन् (वसोष्पते) षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्यययोः । पा० ८ । ३ । ५९ । इति षत्वम् (नि) नियमेन, नितराम् (रमय) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति रमु क्रीडायाम्—णिच्—लोट् । णिचि वृद्धिप्राप्तौ । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९२ । इति मित्त्वात् उपधाह्रस्वः । क्रीडय, आनन्दय माम् (मयि) ममात्मनि वर्त्तमानम् (श्रुतम्) श्रूयतेस्म यदिति । श्रु श्रुतौ—क्त । अधीतम्, वेदशास्त्रम् ॥

३—(इह) अत्र, अस्योपरि, अस्मिन् ब्रह्मचारिणि, ममोपरि (अभि)

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिल्ला के साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नि यच्छतु) नियम में रक्खे, (मयि) मुझ में [वर्त्तमान] (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूरवीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर बाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझ में रहे ॥३॥

भगवान् यास्क के अनुसार-निरुक्त ९। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा बाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उप॑हूतो वा॒चस्प॑ति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्प॑ति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

उप॑-हूतः । वा॒चः । पति॑ः । उप॑ । अ॒स्मान् । वा॒चः । पति॑ः । ह्व॒य॒ता॒म् । सम् । श्रु॒तेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ । मा । श्रु॒तेन॑ । वि । रा॒धि॒षि॒ ४

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को (उपह्वय-

---

अभितः सर्वतः (वितनु) तनु विस्तारे-लोट् अकर्मकः । वितनुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव (उभे) ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १।१।११। इति प्रगृह्यम्। द्वये (आर्त्नी) आङ्+ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम्। पूर्ववत् प्रगृह्यम् आर्त्नी, धनुष्कोटी, अटन्यौ, धनुःप्रान्ते। आर्त्नी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ९। ३९ (ज्यया) ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा-निरु० ९। १७। अघ्न्यादयश्च। उ० ४।११२। इति जि जये, वा ज्या वयोहानौ णिच्-वा, जु रंहसि गतौ, णिच्—यक्। निपातनात् साधुः। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ णिच्-ड। टाप्। धनुर्गुणेन, मौर्व्या (वाचः+पतिः) म० १ । वाण्याः स्वामी (नि+यच्छतु) नियमतु, नियमे रक्षतु। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च।

४—(उप+हूतः) उप+ह्वेञ् आह्वाने—क्त। समीपं कृताह्वानः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे । (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (सं गमेमहि) हम मिले रहें। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा वि राधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्म-विद्या उन के हृदय में स्थिर हो कर यथावत् उपयोगी होवे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिस से वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥

सूक्तम् २ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम् ।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम् ॥ १ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । भूरि-धायसम् ।
विद्मो इति । सु । अस्य । मातरम् । पृथिवीम् । भूरि-वर्पसम् १

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [बाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः (वाचः+पतिः) म० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः (उप) समीपे । आदरेण (ह्वयताम्) ह्वेञ्--लोट् । आह्वयतु स्मरतु (श्रुतेन) मं० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन (सम्+गमेमहि) सम् पूर्वकात् गम्लृ संगतौ-आशीर्लिङि । समो गम्यृच्छि प्रच्छि० । पा० १ । ३ । २६ । इति आत्मनेपदम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ इति समः क्रियापदेन सम्बन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म (मा+वि+राधिषि) राध संसिद्धौ । विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । नमाङ् योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तो मा भूवम् ।

१—(विद्म) विद ज्ञाने-लट् । अदादित्वात् शपो लुक् । द्व्यचोऽतस्तिङः ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (अस्य) इस शूर की (मातरम्) माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्पसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भांति (विद्म उ) हम जानते ही हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथ्वी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है। जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्त्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६। १। १३५। इति सांहितिको दीर्घः। वयं जानीमः (शरस्य) शृणाति शत्रून्। ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७। इति शॄ हिंसे-अप्। शत्रुनाशकस्य बाणस्य। अथवा, शरो बाणः, तदस्यास्ति। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे अच्। बाणवतः शूरपुरुषस्य (पितरम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०। उ० २। ६५। इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः। रक्षकम्। जनकम्। पातारं पालयितारं वा-निरु० ४। २१ (पर्जन्यम्) पर्षति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः। पर्जन्यः। उ० ३। १०३। इति पृषु सेचने-अन्यप्रत्ययः, षस्य जकारः। पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परो जेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १०। १०। सेचकम्। मेघम्। मेघवद् उपकर्त्तारम् (भूरि-धायसम्) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। इति भूरि+ डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा०। ७। ३। ३३। इति युक्। बहुपदार्थधारयितारं सृष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम् (विद्मो इति) विद्म-उ। वयं जानीम एव (सु) सुष्ठु (अस्य) शरस्य (मातरम्) मान्यते पूज्यते सा माता। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ। उ० २। ६५। इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच्, निपातः। माननीयाम्। जननीम् (पृथिवीम्) १। ३०। ३ प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति प्रथ प्रख्याने-कु। वोतो गुणवचनात्। पा० ४। १। ४४। इति। पृथु-ङीष्। विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी। अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी। प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च। उ० १। १५०। इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे —षिवन्, संप्रसारणं च। षिद्गौरादिभ्यश्च। पा० ४। १। ४१। इति ङीष्। भूमिम्। भूमिवद् गुणवन्तम् (भूरिवर्पसम्) व्रियते स्वीक्रियते तत्। वर्पो

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्पाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके॒ परि॑ णो न॒माश्मा॑नं त॒न्वं॑ कृधि ।
वी॒डुर्व॒रीयोऽरा॑ती॒रप॒ द्वेषां॒स्या कृ॑धि ॥ २ ॥

ज्याके॑ । परि॑ । नः॒ । न॒म॒ । अश्मा॑नम् । त॒न्व॑म् । कृ॒धि॒ ।
वी॒डुः । वरी॑यः । अरा॑तीः । अप॑ । द्वेषां॑सि । आ । कृ॒धि॒ ॥२॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू झुका, (तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अश्मानम्) पत्थर सा [सुदृढ़] (कृधि) बनादे । (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप=अपहृत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आ कृधि) करदे ॥ २ ॥

अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नः परि) हमारी ओर (नम) तू झुका । यह अर्थ प्रयुक्त करो ।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें ॥ २ ॥

रूपम्—निघ० ३ । ७ वृङ्शीङ्भ्यां रूपस्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृङ् स्वीकरणे—असुन्, पुट् आगमः । भूरीणि बहूनि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्पाः । अनेकवस्तुयुक्तं परमेश्वरम् ॥

२—**ज्याके** । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा-निरु० ६ । १७ । खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये-आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या-स्वार्थे कन्, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यौ]-स्त्रियां द्वितीयाद्विवचनम् (परि) परितः सर्वतः (नः) अस्मान् (नम) नमय, प्रह्वीकुरु (अश्मानम्) अशि शकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशू व्याप्तौ, वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम-निघ० १ । १० । पाषाणं, प्रस्तरवद् दृढम् (तन्वम्) १ । १ । १ छंदसि यण् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । तनूम्, शरीरम् (कृधि) डुकृञ् करणे—लोट् । कुरु (वीडुः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे उ, लस्य डः । वीलु

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चिल्ला! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक। हमारी समझ में यह असंगत है, सम्पूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद् गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम्। यत्। गावः। परि-सस्वजानाः। अनु-स्फुरम्। शरम्। अर्चन्ति। ऋभुम्। शरुम्। अस्मत्। यवय। दिद्युम्। इन्द्र ३

भावार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्त्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) बाणधारी शूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें। [तब] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर! [वा, हे वायु!] (शरुम्) बाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम—निघ० २। ६। वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ—निरु० ५। १६। वीड्वी दृढा (वरीयः) प्रियस्थिरेत्यादिना। पा० ६। ४। १५७। इति उरु—ईयसुन् वरादेशः। क्रियाविशेषणम्। उरुतरं दूरतरम् (अरातीः) न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १७४। इति रा दाने—क्तिच्, नञ्समासः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०। पा० ७। १। ३९ इति पूर्वसवर्णः। अरातीन् शत्रून्। यद्वा क्तिन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्, विरोधान् (अप) अपहृत्य (द्वेषांसि) द्विष अप्रीतौ भावे—असुन्। द्वेषान् (आ) ईषदर्थे।

३—(वृक्षम) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओ व्रश्चू छेदने—क्स प्रत्ययः। वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात्—निरु० २। ६। धनुर्दण्डम्। धनुः (यत्) यदा (गावः) गमेर्डोः। उ० २। ६७। इति गम्लृ गतौ—डो। ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति—निरु० २। ५। ज्याः, मौर्व्यः (परि-सस्वजानाः) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लिटः कानच्, नकारलोपे द्विर्वचनम्। आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः (अनु स्फुरम्)

भावार्थ-जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृत्त) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इस लिये है कि उस से वाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आ-स्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रतिस्फुरणम्, स्फूर्तियुक्तम् (शरम्) म० १ । शत्रुछेदकम् । वाणधारकं शूरम् (अर्चन्ति) पूजयन्ति, स्तुवन्ति । (ऋभुम्) ऋ गतौ-क्विप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ+भा दीप्तौ वा भू सत्तायाम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा-निरु०११ । १५।ऋभुः=मेधावी-निघ०३।१५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् (शरुम्) शृस्वृस्निहि०। उ०१। १० ।इति शॄ हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं वाणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (यवय) यु मिश्रणामिश्रणयोः-णिच्-लोट् । पृथक् कुरु (दिद्युम्) द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्विप् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्विप् । द्यति खण्डयति शत्रून् । पृषोदरादिः, तलोपश्छान्दसः । दिद्युत्, वज्रः—निघ० २ । २० । वज्रम् (इन्द्र) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमैश्वर्ये—रन् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ९३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० ७ । ५ । हे परमैश्वर्यवन्, वायो, हे जीव ।

४—(यथा) येन प्रकारेण (द्याम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति बाहु-

(पृथिवीम) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है । (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं । अथवा जैसे सद्वैद्य (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्ग को [तेजनः] पुलिंग मानकर [वेणुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम ३ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-६ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ं शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ १ ॥

लकात् द्युत दीप्तौ-डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् (पृथिवीम्) मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् (अन्तः) अम गतौ-अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये (तिष्ठति) वर्तते (तेजनम्) नपुंसकम् । तिज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट् । तेजः प्रकाशः (एव) निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा (रोगम्) पदरुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुज भंगे हिंसे च-घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभङ्गम् (आस्रावम्) । श्याऽऽद्व्यधास्रु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । आस्रवम्, रुधिरादिस्रवणम् । आघातम् (मुञ्जः) गुञ्ज्यते मृज्यते अनेन । मुजि मार्जने शोधने-अच् । परमेश्वरः । संशोधकः पदार्थो वा (इत्) एव । अपि ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम ।
बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाण धारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (बाल्) बैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्ण्य) सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मबल बढ़ा कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १ । २ । १ । देखो ।

१—(विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्) इति पदानि व्याख्यातानि १ । २ । १ (शतवृष्ण्यम्) वर्षतीति वृषा । कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने-कनिन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति वृषन्-यत् । वृष्णि भवं वृष्ण्यं वीर्यं सामर्थ्यम् । बहुसामर्थ्योपेतं परमेश्वरम् (तन्वे) १ । १ । १ । तन्नवत् सिद्धिः स्वरितश्च । शरीराय (शम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शमु उपशमने-विच् । शान्तिम्, स्वास्थ्यम् । सुखम्-निघ० ३ । ६ (करम्) डुकृञ् करणे-लेट् । अहं कुर्याम् (पृथिव्याम्) १ । २ । २ । प्रख्यातायां भूमौ (ते) तव (नि-सेचनम्) नि+षिच सेचने-भावे ल्युट् । आर्द्रीकरणं, वर्धनम्, वृद्धिः (बहिः) वह प्रापणे—इसुन् । बाह्यम् । बहिर्देशे (बाल्) बल वधे-क्विप्, बलति हिनस्तीति बाल् बलः, असुरः, दैत्यः, बैरी (इति) इण् गतौ-क्तिच् । पर्य्याप्तम् । अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६ ॥

विद्मा शुरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक शूर [वा बाणधारी] के (पितरम्) रक्षक पिता, (मित्रम्) सब के चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । तेन उस [ज्ञान] से······ ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मा शुरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—(मित्रम्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति डुमिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-स्नेहे—त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः—निरु० १० । २१–२२ । अहरभिमानी देवो मित्रः—इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्, मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकने वाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वालों [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ...... ॥ ३ ॥

भावार्थ—आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है—इत्यादि ॥ ३ ॥

(वरुण) मध्यस्थान देवता—निरु० १० । ३ । इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं० १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है ॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ४ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । चन्द्रम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ...... ॥ ४ ॥

३-(वरुणम्) कृवृदारिभ्य उनन्। उ० ३ । ५३ । इति वृञ् वरणे-उनन्। आवृणोति लोकान्। मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १० । ३ । लोकानामावरकम् अन्तरिक्षम् आकाशं वा । वरुणो रात्र्यभिमानी देवः-इति सायणः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम् मं० १ ।

४-(चन्द्रम्) स्फायितञ्चीत्यादिना, उ० २ । १३ । इति चदि आह्लादने-रक् । चन्द्रश्चन्दतः कान्तिकर्मणः-निरु० ११ । ५ । आह्लादकं देवं, हिमांशुम्।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है। उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। सूर्यम्। शत-वृष्ण्यम। तेन।
ते। तन्वे। शम्। करम्। पृथिव्याम। ते। नि-सेचनम्।
बहिः। ते। अस्तु। बाल्। इति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शरस्य, शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) बैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥५॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है। वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है। उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम्। तद्वत् उपकारकम्। अन्यत् -यथा मं० १।

५—(सूर्यम्) राजसूयसूर्येत्यादिना। पा० ३।१।११४। इति सृ सरणे क्यप्। निपातनात् ऋकारस्य ऊत्वम्। सरत्याकाशे स सूर्यः। यद्वा, षू प्रेरणे, तुदादिः-क्यप्, रुट् आगमः। सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः। यद्वा सु+ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते। वायुना सुष्ठु ईर्यते प्रेर्य्यते स सूर्यः। सूर्यः सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्य्यतेर्वा। इति यास्कः—निरु० १२।१४। आदित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम्। शेषम्—व्याख्यातम् मं० १।

यदा॒न्त्रेषु॑ ग॒वीन्यो॒र्यद्व॒स्तावधि॒ संश्रु॑तम् ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालिति॑ सर्व॒कम् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒न्त्रेषु॑ । ग॒वीन्योः॑ । यत् । व॒स्तौ । अधि॑ । सम्–श्रु॑तम् ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥६॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है]। (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) वेग (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही बस है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—(यत्) यथा (आन्त्रेषु) अमत्यनेन, अम गतौ—क्त । अति बन्धने—करणे ष्ट्रन्, उपधादीर्घः । अन्त्रेषु, उदरनाड़ीविशेषेषु । (गवीन्योः) हुदहिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुङ् ध्वनौ-इनन् । ङीष् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः (वस्तौ) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये (अधि) उपरि, मध्ये (सम्-श्रुतम्) श्रु श्रवणे गतौ च-क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् (एव) एवम्, तथा (मूत्रम्) मूत्र प्रस्रावे-घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्ट्रन् ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सार-हीनो मलद्रवः (मुच्यताम्) मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु (सर्वकम्) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ७ ॥

प्र । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वर्त्रम् । वेशन्त्याः-इव ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्र भिनद्मि) मैं खोले देता हूं, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) झील का पानी (वर्त्रम्) बन्ध को [खोल देता है]। (एव), वैसे ही......म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को झील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ८ ॥

वि-सितम् । ते । वस्ति-बिलम् । समुद्रस्य । उदधेः-इव ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति ।
सर्वकम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरा (वस्तिबिलम्) मूत्र मार्ग (विषितम्) खोल दिया

(प्र+भिनद्मि) भिदिर् विदारणे-लट् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विवृणोमि, विवृतं करोमि (मेहनम्) मिह सेचने-करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् (वर्त्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । वृतु वर्तने-ष्ट्रन् । बन्धम् (वेशन्त्याः) जॄविशिभ्यां झच् । उ० ३ । १२६ । इति विश प्रवेशे-झच् । झोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति झस्य अन्तादेशः, वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

८-(वि-सितम्) वि+षो अन्तकर्मणि-क यद्वा, षिञ् बन्धे-क । विमुक्तम् (वस्ति-बिलम्) म० १ । वस्ति+बिल स्तृतौ-क । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग] । (एव) वैसे ही ..... । म० ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।

एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथा । इषुका । परा-अपतत् । अव-सृष्टा । अधि । धन्वनः । एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष् से (अवसृष्टा) छुटा हुआ (इषुका) बाण (परा-अपतत्) शीघ्र चला गया है । (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह बस है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ९ ॥

(समुद्रस्य) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उनत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्द्रव-न्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः=अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । सागरस्य (उदधेः) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति उद वा उदक+डुधाञ् धारणपोषणयोः-कि । उदकपूर्णस्य । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

९—(इषुका) इषुरीषतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा । निरु० ९ । १८ । इति ईष गतौ वधे-उ प्रत्ययः । स्वार्थे-कन् , टाप् । इषुः, बाणः (परा-अपतत्) पत गतौ—लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् (अवसृष्टा) सृज—विसर्गे—क्त । विमुक्ता (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (धन्वनः) कनिन् युवृषितक्षिराजि-धन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात् , चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—४। सिन्धुद्वीप ऋषिः । आपो देवताः १-३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः—परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।
पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, बहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१-(अम्बयः) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति अम्ब गतौ-इन्। प्रापणीया मातरः। मातृभूता आपः। अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची। यथा। अम्बितमे नदीतमे। ऋ० २। ४१। १६। अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके। य० ३४। १८ (यन्ति) इण् गतौ-लट् गच्छन्ति (अध्वभिः) अत्ति, गमनेन बलं नाशयति स अध्वा। अदेर्ध च। उ० ४। ११६। इति अद भक्षणे-क्वनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः। यद्वा। अत सातत्यगमने-क्वनिप्, तकारस्य धः। सन्मार्गैः (जामयः) वसिवपियजिराजि०। उ० ४। १२५ जम भक्षणे-इञ्। जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः। कुलस्त्रियः। भगिन्यः। भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः (अध्वरि-यताम्) अध्वानं सत्पथं रातीति। अध्वन्+रा-दानग्रहणयोः-क। यद्वा। न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा। न+ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच्। अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० १। ८। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। इति अध्वर + क्यच्। शतृ। क्यचि च। पा० ७। ४। ३३। अकारस्य ईत्वम्। सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् (पृञ्चतीः) पृची सम्पर्के-शतृ। ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। पृञ्चत्यः। संयोज-

भावार्थ – जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं, वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।
ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ —(अमूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप = उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माताओं और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्य का प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने हारे वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों को फैलाना ॥ २ ॥

१–जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वे तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः (मधुना) फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधतश्च । उ० १ । १८ । इति मन ज्ञाने–उ । धश्चान्तादेशः । रसभेदेन । मधुरगुणेन (पयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पीङ् पाने–असुन् । दुग्धम्, रसम् ॥

२–(अमूः) अदस्, स्त्रियां जस् । ताः परिदृश्यमानाः (याः) अम्बयो जामयश्च, म० १ । यद्वा । आपः, म० ३ (उप) समीपे, उपेत्य । आधिक्येन । आदरेण (सूर्ये) १ । ३ । ५ । आदित्यलोके । सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे । सूर्यप्रकाशे (याभिः) अम्बिजामिभिः । अद्भिः (वा) समुच्चये । विकल्पे (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सवितृलोकः । तद्वद् ज्ञानप्रकाशः । सवितृप्रकाशः (सह) षह क्षमायाम्–अच् । साहित्ये

२-जो (अमूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबंध मंत्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तो यह भावार्थ है। पहिले जल मूर्त्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है। इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं॥

अपो देवीरुपह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः।
सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः॥ ३॥

अपः। देवीः। उप। ह्वये। यत्र। गावः। पिबन्ति। नः।
सिन्धुभ्यः। कर्त्वम्। हविः॥ ३॥

भाषार्थ-(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणें [वा गौयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं। (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूं॥ ३॥

(नः) अस्माकम् (हिन्वन्तु) हिवि प्रीणने, लोट्। इदितो नुम्धातोः। पा० ७। १। ५८। इति इदित्त्वात् नुम्। अथवा। हि वर्धने स्वादिः-लोट। प्रीणयन्तु, साधयन्तु। वर्धयन्तु (अध्वरम्) म० १। सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म। यज्ञम्॥

३—(अपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। उ० २। ५८। इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्। इति अप्। अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च। व्यापयित्रीः, जलधाराः। जलवत् उपकारिणः पुरुषान् (देवीः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यः०। पा० ३। १। १२४। इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच्। ङीप्। देवो दानाद्वा दीपनाद्वा……निरु० ७। १५। दिव्याः, द्योतमानाः (ह्वये) अहमाह्वयामि (यत्र) यासु अप्सु (गावः) १। २ ३। धेनवः। उपलक्षणमेतत्। सर्वे जीवा इत्यर्थः। सूर्यकिरणाः। भूलोकाः (पिबन्ति) पाघ्रा० इत्यादिना। पा० ७। ३। ७८। इति पा पाने-शपि पिबादेशः। पानं कुर्वन्ति (नः) अस्मदर्थम् (सिन्धुभ्यः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च। उ० १।

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है। अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व१ न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत । प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथ । वाजिनीः ॥ ४ ॥

भावार्थ-(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है। (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

११। इति स्यन्दू स्रवणे—उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् (कर्त्वम्) डुकृञ् करणे-तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् (हविः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इसि । यद्वा ह्वेञ् आह्वाने—इसि । हूयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अन्नम् । आवाहनम् । उदकम्—निघ० १ । १२ ॥

४—(अप्सु) मन्त्र ३ । जलधारासु (अन्तः) मध्ये (अमृतम्) रोगनिवारकं रसम् (भेषजम्) भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्—अण्, निपातनात् षत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड । औषधम् (अपाम्) म० ३ । जलधाराणाम् (उत) अपि च (प्रशस्ति-भिः) प्र+शन्स स्तुतौ—क्तिन् । उत्तमगुणैः (अश्वाः) हे तुरगाः (भवथ) भू—लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावार्थ—जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १। २३। १६, है॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ० १। ८॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया॥

सूक्तम् ५ ॥

१-४। सिन्धुद्वीप ऋषिः। आपो देवताः। गायत्री छन्दः॥

बलप्राप्त्युपदेशः—बल की प्राप्ति के लिये उपदेश॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः। हि। स्थ। मयः-भुवः। ताः। नः। ऊर्जे। दधातन।
महे। रणाय। चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो! [जल के समान उपकारी पुरुषो] (हि)

(वाजिनः) अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति वाज—भूम्नि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः। वेगवन्तः, बलयुक्ताः। वाजी वेजनवान्-निरु० २। २८ (गावः) १। २। ३ हे धेनवः (अश्वाः। गावः)—सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः (वाजिनीः) ऋन्नेभ्यो ङीप्। पा० ४। १। ५। इति वाजिन्-ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः॥

१—(आपः) १। ४। ३। हे व्यापयित्र्यः। जलधाराः। जलवत्‌ उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम वा रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल स्नान, पान, खेती, बाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ९ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२,
तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा० ९ अर्धप्र० २ सूक्त १० ॥

यो वः॑ शि॒वत॑मो॒ रस॒स्तस्य॑ भाजयते॒ह नः॑ ।
उ॒श॒तीरि॑व मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

यः । वः॒ । शि॒व-त॑मः । रसः॑ । तस्य॑ । भा॒ज॒य॒त॒ । इ॒ह । नः॒ ।
उ॒श॒तीः-इ॑व । मा॒तरः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः (हि) निश्चयेन (स्थ) अस सत्तायां—लट् । भवथ (मयः-भुवः) मयः+भू सत्तायां—क्विप् । मिञ् हिंसायाम्—असुन् । मिनोति हिनस्ति दुःखम् । मयः सुखम्—निघ० ३। ६ । सुखस्य भावयित्र्यः कर्त्र्यः (ताः) आपो यूयम् (नः) अस्मान् (ऊर्जे) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । बलार्थम् , अन्नार्थं वा (दधातन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः । धत्त, पोषयत (महे) मह पूजायां—क्विप् । महते । विशालाय (रणाय) रण रवे—घञर्थे क । युद्धाय । यद्वा । रमतेर्भावे—ल्युट् मकारलोपश्छान्दसः । रमणाय । क्रीडनाय । रणाय रमणीयाय—निरु० ९ । २७, यत्रायं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः (चक्षसे) चक्षेर्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—भावे असुन् । दर्शनाय ॥

२—(शिव-तमः) अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति तमप् । अतिशयेन कल्याणकरः (रसः) रस आस्वादे—अच् । सारः ।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै । अरम् । गमाम । वः । यस्य । क्षयाय । जिन्वथ । आपः । जनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुंचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो । (आपः) हे जलो! [जल समान उपकारी लोगो] (नः) हम को (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

(भाजयत) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत (उशतीः) वश कान्तौ=अभिलाषे-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्व-सवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः (मातरः) १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—(अरम्) ऋ गतौ-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूषणे निवारणे-अमु । लस्य रत्वम् । अलम्, पर्य्याप्तं पूर्णतया (गमाम) गम्लृ गतौ णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम (क्षयाय) एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति क्षि निवासे ऐश्वर्ये च—अच् । निवासाय । ऐश्वर्यप्राप्तये (जिन्वथ) जिवि प्रीणने लट् । यूयं तर्पयथ । वर्धयथ । अनुगृह्णीध्वम् (आपः) १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्त्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्षणी॒नाम् ।
अ॒पो या॑चामि भेष॒जम् ॥ ४ ॥

ईशा॑नाः । वार्या॑णाम् । क्षय॑न्तीः । च॒र्ष॒णी॒नाम् ।
अ॒पः । या॒चा॒मि॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतने वाले औषध को (याचामि) मांगता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ -जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं। सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १० । ९ । ५ । है ॥

धाराः (जनयथ) हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, सांहितको दीर्घः। यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ (च) अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

४—(ईशानाः) ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः (वार्याणाम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-ण्यत् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् (क्षयन्तीः) क्षि निवासे, ऐश्वर्ये च-लटः शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । (चर्षणीनाम्) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । आकर्षन्ति वशीकुर्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षणयः=मनुष्याः-निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् (अपः) अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः (याचामि) याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे प्रार्थये । (भेषजम्) १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१–४ ॥ सिन्धुद्वीपोऽथर्वाकृतिर्ऋषिः । आपो देवताः । १–३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑ ।
शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वीः । अ॒भिष्ट॑ये । आप॑ः । भ॒व॒न्तु॒ । पी॒तये॑ ।
शम् । योः॑ । अ॒भि । स्र॒व॒न्तु॒ । नः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होवें । और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (यो) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—(शम्) १ । ३ । १ । सुखं, सुखकारिण्यः (देवीः) १ । ४ । ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । देव्यः । दिव्याः (अभिष्टये) अभि+इष वाञ्छायाम्—क्तिन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ९४ । इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये (आपः) १ । ४ । ३ । जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (पीतये) घुमास्थागापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओप्यायी, प्यैङ वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा । यथा । पः किच्च । उ० १ । ७१ । इति पा-तु प्रत्ययः । पिबति पाति वा स पीतुः । कित्वात् ईकारः । पानाय रक्षणाय, वृद्धये (शम्) १ । ३ । १ । रोगशमनाय (योः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-विच्, सकारश्छान्दसः यद्वा । यु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १— ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ । तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्-सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्व-शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा वा सोमलता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब (भेषजा=०-नि) ओषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [बिजुली वा पाचनशक्ति] का (अब्रवीत्) बताता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य ओषधि है। यह सब पदार्थ जैसे जल द्वारा औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, बिजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः······शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भयपृथक्कारणाय (अभि) सर्वतः (स्रवन्तु) स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—(अप्सु) १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणिषु मनुष्येषु—इत्यर्थः (सोमः) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० । १ । १४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता । सोमो व्याख्यातः-निरु० १४ । १२ (अब्रवीत्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् (अन्तः) मध्ये (विश्वानि) सर्वाणि (भेषजा) १ । ४ । ४ । शेश्छन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेर्लोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि (अग्निम्) अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अगि गतौ-नि, नलोपः । तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् (विश्व-शंभुवम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू सत्तायां-क्विप्, उवङ्, आदेशः । विश्वस्य जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् तन्वे मम ।
ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध में योद्धा की रक्षा झिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याः । शम् । ऊं इति । सन्तु ।
अनूप्याः । शम् । नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति ।

३-(आपः) हे व्यापयित्तॄणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः]। (पृणीत) पॄ पालनपूरणयोः--लोट्। पालयत, पूरयत (भेषजम्) १। ४। ४। भयनिवारकम्। औषधम् (वरुथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन्। उ० २। ६। इति वृञ् वरणे--ऊथन्, व्रियते शरीरमनेन । तनुत्राणम्, कवचम् (तन्वे) १। १। १। तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च। तन्यते विस्तीर्यते तनूः। शरीराय। (मम) मदीयाय (ज्योक्) ज्या नियमे-डोकि । चिरकालम् (सूर्यम्) १। ३। ५। जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् (दृशे) दृशे विख्ये च। पा० ३। ४। ११। इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपात्यते। द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ॒ऽभृ॑ताः । शि॒वाः । नः॒ । स॒न्तु॒ । वार्षि॑कीः ॥४॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुखदायक, (उ) और (अनूप्याः) जलवाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें । (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवें, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुखदायी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४—(शम्) १ । ३ । १ । सुखकारिण्यः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः (धन्वन्याः) कनिन् युवृषितक्षिधन्विराजिद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गतौ—कनिन् । इदित्त्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः (ऊं इति) च (अनूप्याः) अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अनु+अप्—अकारः समासान्तः । ऊदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ९८ । इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे जलप्राये देशे भवा आपः (खनित्रिमाः) खनु अवदारणे—अस्माच्छान्दसः क्त्रि प्रत्ययः । आर्धधातुकस्येड् वलादेः । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रेर्मम्नित्यम् । इति मप् खनित्रेण अस्त्रविशेषेण निर्वृत्ताः कूपोद्भवाः (कुम्भे) कुं भूमिं उम्भति जलेन । उन्भ पूरणे—अच् । शकन्ध्वादित्वात् साधुः । घटे, कलशे (आ-भृताः) हृञ् हरणे—क्त । हृग्रहोर्भः—इति भत्वम् । आहृताः, आनीताः । (शिवाः) सुखदात्र्यः (वार्षिकीः) छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १९ । इति वर्षा+ठञ् । ङीप् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१--७ ॥ चातन ऋषिः । इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ।

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने ! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले लुतरे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्योः) चोर वा डाकू का (हन्ता) हनन कर्ता (बभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—(स्तुवानम्) ष्टुञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति उवङ् । त्वां प्रसशंन्तं स्तुवन्तम् (अग्ने) १ । ६ । २ । अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधिं व्याख्यातः—निरु० ७ । १४ । हे वह्ने, हे पावक, हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! (आ-वह) आनय (यातु-धानम्) कृवापाजिमि० । उ० । १ । १ । इति यत ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु—युच् । पीड़ाप्रदं राक्षसम् (किमीदिनम्) किम् + इदानीम् वा किम्+इदम्-इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरों [चुगल खोरों] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्य में शान्ति फैलती है ॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुगलखोर का किया है—निरु० ६ । ११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥
आज्यस्य । परमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।
अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान । यातु-धानान् । वि । लापय ॥२॥

भावार्थ—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! (तनूवशिन्) । शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन् ! तू (तौलस्य) तोल से पाये हुये (आज्यस्य) घृत का (प्र-अशान) भोजन कर । और (यातुधानान्) दुखदायी राक्षसों से (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६ । ११ । इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते-इति एवमन्वेषमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् (हि) यस्मात् । अवश्यम् (देव) १ । ४ । ३ । हे द्योतमान ! राजन् ! (वन्दितः) वदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त । स्तुतः । नमस्कृतः (हन्ता) हन—तृच् । हननकर्ता, घातयिता (दस्योः) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चौरस्य । शत्रोः (बभूविथ) भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्यमैकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२-(आज्यस्य) आङ्+अञ्जु मिश्रणे गतौ च-क्यप्, न लोपः । कर्मणि षष्ठी, आ अज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् (परमे-स्थिन्) परमे कित् । उ० ४ । १० । इति परमे+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-इनि, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भावार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तौल वा परिमाण से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लंपन्तु यातुधाना अ॒त्त्रिणो॒ ये किमी॒दिनः॑ ।
अथे॒दम॑ग्ने नो ह॒विरिन्द्र॑श्च॒ प्रति॑ हर्य॑तम् ॥ ३ ॥

वि । ल॒पन्तु॒ । या॒तु॒ऽधानाः॑ । अ॒त्त्रिणः॑ । ये । कि॒मी॒दिनः॑ । अथ॑ । इ॒दम् । अ॒ग्ने॒ । नः॒ । ह॒विः । इन्द्रः॑ । च॒ । प्रति॑ । ह॒र्य॒त॒म् ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करनेवाले लुतरे [हैं], [वे] (विलपन्तु)

पा० ६। ३। ६। इत्यलुक् । स्थास्थिन्स्पृणाम् । वा० पा० ८। ३। ६७। इति षत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी। हे उच्चपदस्थ राजन्। (जात-वेदः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४। २२७। इति जात+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन्। जातं प्रादुर्भूतं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः। जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्यो वा जात-प्रज्ञानो वा—इति निरु० ७। १६। हे जातधन, हे जातप्रज्ञान (तनू-वशिन्) वशोऽस्त्यस्य—इनि। हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः (अग्ने) म० १। हे अग्निवत् तेजस्विन् (तौलस्य) तुल उन्माने—घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना इति तोलम्। तोल-अण्। कर्मणि षष्ठी। तौलम्। तोलेन परिमाणेन कृतम् (प्र+अशान) अश भोजने-लोट्। हलः श्नः शानज् झौ। पा० ३। १। ८३। इति श्नाप्रत्ययस्य शानच्। हौ परतः। अतो हेः। पा० ६। ४। १०५। इति हेर्लुक्। त्वं भोजनं कुरु। भक्षय (यातु-धानान्) मं० १। पीड़ाप्रदान् राक्षसान् (वि+लापय) हेतुमति च। पा० ३। १। २६। इति वि विकृतं। लप भाषे-णिच्-लोट्। विलापेन दुःख वचनेन युक्तान् कुरु ॥

३—(विलपन्तु) लप कथने—लोट् । विकृतं लपनं परिवेदनं कुर्वन्तु

विलाप करें। (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम सामग्री को (प्रति हर्यतम्) अङ्गीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, वतबने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अ॒ग्निः पूर्व॒ आ र॑भतां॒ प्रेन्द्रो॑ नुदतु बा॒हुमान् ।
ब्रवी॑तु॒ सर्वो॑ यातु॒मान॒यम॒स्मीत्येत्य॑ ॥ ४ ॥

अ॒ग्निः । पूर्वः॑ । आ । र॒भ॒ताम् । प्र । इन्द्रः॑ । नु॒द॒तु॒ । बा॒हु-मान् ।
ब्रवी॑तु । सर्वः॑ । या॒तु-मान् । अ॒यम् । अ॒स्मि॒ । इति॑ । आ॒-इत्य॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रुओं] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (प्रनुदतु) निकाल देवे। (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूं—(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

(यातु-धानाः) म० १। पीड़ाप्रदाः राक्षसाः (अत्त्रिणः) अदेस्त्रिनिश्च। उ० ४। ६८। इति अद भक्षणे-त्रिनि। अदनशीलाः, उदरपोषकाः (किमीदिनः) म० १। विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः (अथ) अनन्तरम्। अपि च (इदम्) प्रस्तुतमुपस्थितम् (अग्ने) म० १। अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (हविः) १। ४। ३। दानम्। हव्यं द्रव्यम्। आह्वानम् (इन्द्रः) १। २। ३। परमैश्वर्यवान् (वायुः) वायुवद् वेगवान् राजा (प्रति+हर्यतम्) हर्य गतिकान्त्योः-लोट्। युवां कामयेथां, स्वीकुरुतम् ॥

४—(अग्निः) म० १। अग्निवत् तेजस्वी राजा (पूर्वः) पूर्व निमन्त्रणे निवासे वा-अच्। पुरोगामी, मुख्यः (आरभताम्) रभ राभस्ये=उपक्रमे। आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोट्। स्पृशतु। निगृह्णातु (इन्द्रः) १। २। ३ वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा (प्र+नुदतु) णुद प्रेरणे तुदादित्वात् शः। प्रेरयतु।

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः । त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥ ५ ॥

पश्याम । ते । वीर्यम् । जात-वेदः । प्र । नः । ब्रूहि । यातु-धानान् । नृ-चक्षः । त्वया । सर्वे । परि-तप्ताः । पुरस्तात् । ते । आ । यन्तु । प्र-ब्रुवाणाः । उप । इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान देने हारे वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने हारे ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राक्षसों को (प्रब्रूहि) बतादे । (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (ते सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात् [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु (बाहुमान्) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। पा० ५ । २ । ९४ । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति बाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप्। प्रबलभुजः । महाबली (ब्रवीतु) ब्रूञ्—लोट् । कथयतु (सर्वः) निखिलः (यातु-मान्) कृवा पा० । उ० १ । १ । इति यत ताडने-उण्। ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम्। यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान् पीडावान्, महापीड़ाकारी (अयम्) एतन्नामकोऽहम् (इति) एवम् (आ-इत्य) समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्। पा० ७ । १ । ३७। इति आङ्+इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबादेशः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । आगत्य ॥

५—(पश्याम) दृशिर् प्रेक्षणे-लोट् । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति शपि पश्यादेशः । अवलोकयाम (वीर्यम्) वीरस्य भावः, वीर-यत् ।

भावार्थ--राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रक्खे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रक्खे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । अस्माक । अर्थाय । जज्ञिषे । दूतः । नः । अग्ने । भूत्वा । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

भाषार्थ-(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन्! (आ रभस्व) [बैरियों को] पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है। (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (वि लापय) विलाप करा ॥ ६ ॥

यद्वा, वीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्, सामर्थ्यम् (जात-वेदः) म० २ । हे जातप्रज्ञान (नः) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति (प्र+ब्रूहि) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट्, द्विकर्मकः । प्रकथय (यातुधानान्) म० १ । पीड़ाप्रदान् राक्षसान् (नृचक्षः) चष्टिः पश्यति कर्मा—निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक (त्वया) अग्निना, अग्निवत् तेजस्विना (परि-तप्ताः) सम्यग् दग्धाः (पुरस्तात्) अग्रे (ते) प्रसिद्धाः (आ+यन्तु) आगच्छन्तु (प्र-ब्रुवाणाः) ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः (इदम्) दृश्यमानम् स्थानम् ॥

६—(आ+रभस्व) म० ४ । आङ्+रभ स्पर्शे-लोट् । निगृहाण (जात-वेदः) म० २ । जातप्रज्ञान ! (अस्माक) अन्त्यलोपश्छान्दसः । अस्माकम् (अर्थाय) अर्थ याचने-घञ् । प्रयोजनाय, धनाय (जज्ञिषे) जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वंजातवानसि (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ९० । इति दु

भावार्थ—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर सन्देश पहुंचाता है वैसे ही बिजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥ ६ ॥

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह ।
अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अग्ने । यातु-धानान् । उप-बद्धान् । इह । आ । वह ।
अथ । एषाम् । इन्द्रः । वज्रेण । अपि । शीर्षाणि । वृश्चतु ॥७॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राक्षसों को (इह) यहां पर (आ वह) लेआ । (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुलहाड़े से (एषाम्) इन के (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (वृश्चतु काट डाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

---

गतौ-क । यद्वा टु दु उपतापे-क दीर्घश्च । दवति गच्छति दुनोत्युपतापयतीति दूतः । वार्त्ताहरः, सन्देशहरः । सन्तापकः । अग्निः (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (यातु-धानान्) म० १ । पीड़ाप्रदान् (विलापय) म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—(यातु-धानान्) म० १ पीड़ाप्रदान् (उप-बद्धान्) बन्ध बन्धने-क-दृढ़बन्धनयुक्तान् (इह) निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । (अथ) च । तदनन्तरम् (एषाम्) यातुधानानाम् (इन्द्रः) १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् (वज्रेण) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ-रन् । कुलिशेन, कुठारेण (अपि) एव, अवश्यम् । (शीर्षाणि) शीर्षश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ चातन ऋषिः । अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि--सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ । वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः । स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ--(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राक्षसों को (आ वहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को। (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (इह) यहां (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ--प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टों को पकड़ता है, अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अङ्गीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि (वृश्चतु) ओव्रश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१--(इदम्) प्रस्तुतं, क्रियमाणम् (हविः) १ । ४ । ३ दानम् । भक्तिः । आवाहनम् (यातु-धानान्) १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् (नदी) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद ध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नदट् इति पाठात् टित्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने हारी वा स्तुति योग्य, और [पुमान्] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है।

अयं स्तु॑वान आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ हर्यत ।
बृह॑स्पते॒ वशे॑ लब्ध्वाग्नी॑षोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥ २ ॥

अयम् । स्तु॒वा॒नः । आ । अ॒ग॒म॒त् । इ॒मम् । स्म॒ । प्रति॑ । ह॒र्य॒त॒ ।
बृह॑स्पते । वशे॑ । लब्ध्वा । अग्नी॑षोमा । वि । वि॒ध्य॒त॒म् ॥२॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत) तुम सब स्वागत करो। (बृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन्! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्त्तमान हो,] (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा! तुम दोनों [अन्य बैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २। २४। नदनशीला, सरित्, तरङ्गिणी (फेनम्) फेनमीनौ। उ० ३। ३। इति स्फायी वृद्धौ—नक्, फेशब्दादेशः। स्फायते वर्धते स फेनः। डिण्डीरम्, समुद्रफेनम् (आ+वहत्) वह प्रापणे—लेट्। आनयेत् (स्त्री) स्त्यायतेड्ड्रट् । उ० ४। १६६। इति स्त्यै संहतौ, ध्वनौ-ड्रट्, ङीप्। स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा। यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ड्रट्। ङीप्। स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री। नारी (पुमान्) पातेर्डुमसुन्। उ० ४। १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन्। डित्वात् टिलोपः। पातीति पुमस्=पुमान् मनुष्यः, पुरुषः (अकः) डुकृञ् करणे-लुङ्। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०। पा० ६। १। ६८। इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः। अकार्षीत् (स्तुवताम्) ष्टुञ् स्तुतौ-लोट्। छन्दसि शः। स्तुतिं करोतु (जनः) जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच्। जायते जनयति वा स जनः। लोकः॥

२—(अयम्) शत्रुः (स्तुवानः) ष्टुञ् स्तुतौ—शानच्। युष्मान् स्तुवन् (आ+अगमत्) गम्लृ गतौ—लुङ्। आगतवान् (इमम्) शत्रुम् (स्म) अवश्यम्, प्रीत्या (प्रति+हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः—लोट्। यूयं प्रतिकामयध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत (बृहस्पते) तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रक्खे। और अन्य बैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहैं ॥ २ ॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।
निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥३॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) लेआ। (निःस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम् [हृदय]

सुट् तलोपश्च । वार्त्तिकम्, पा० ६ । १ । १५७ । इति बृहत् + पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे बृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन् ! (वशे) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् (लब्ध्वा) लभ प्राप्तौ—क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य-शत्रुं, तिष्ठ, इति शेषः] (अग्नीषोमा) अग्निश्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६ । ३ । २७ । इति ईत्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः । पा० ८ । ३ । ८२ । इति षत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० । उ० १ । १४० । इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौषधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् (वि) विविधम् (विध्यतम्) व्यध ताडने—लोट् । युवां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—(यातु-धानस्य) १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदस्य (सोम-प) आतोऽनुपस-र्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति सोम + पा पाने—क । हे अमृतस्य पातः ! (जहि)

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आंख को (पातय) निकाल दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(सोमप) अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी शत्रु को नष्ट भ्रष्ट कर दे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़ दे ॥ ३ ॥

यत्रै॒षाम॑ग्ने॒ जनि॑मानि॒ वेत्थ॒ गुहा॑ स॒ताम॒त्त्रिणां॑ जातवेदः। तांस्त्वं ब्रह्म॑णा वावृधा॒नो ज॒ह्ये॑षां श॒त॒तर्ह॑मग्ने ॥ ४ ॥

यत्र॑। ए॒षाम्। अ॒ग्ने॒। जनि॑मानि। वेत्थ॑। गुहा॑। स॒ताम्। अ॒त्त्रिणा॑म्। जा॒त॒ऽवे॒दः॒। तान्। त्वम्। ब्रह्म॑णा। व॒वृ॒धा॒नः। ज॒हि। ए॒षाम्। श॒त॒ऽतर्ह॑म्। अ॒ग्ने॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले! (अग्ने) अग्नि [अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्त्तमान (एषाम्) इन (अत्रिणाम्) उदर पोषकों के (जनिमानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन हिंसागत्योः—लोट्। नाशय (प्र-जाम्) जनम्। मनुष्यान् (नयस्व) आनय (निः) क्षेपेण, अपवादेन। निषेधेन (स्तुवानस्य) म० २। स्तुवतः शत्रोः (पातय) पत अधोगतौ—णिच् लोट्। अधोगमय, च्यावय (परम्) ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७। इति पॄ—पालने पूर्त्तौ च—अप्। श्रेष्ठम्। उच्चम् (अक्षि) अशेर्नित्। उ० ३। १५६। इति अशू व्याप्तौ—क्सि। यद्वा। अक्षू व्याप्तौ-इन्। चक्षुः, नेत्रम् (अवरम्) ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च। पा० ३। ३। ५८। इति न+वृञ् वरणे—अप्। न व्रियत इति। निकृष्टम्, नीचम् ॥

४—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (जनिमानि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन्। उ० ४। १४९। इति जनी प्रादुर्भावे—इमनिन्। जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि।

है । (अग्ने) हे अग्निरूप राजन् ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन] से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शततर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का खोज करे और उनको यथानीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रक्खे ॥४॥

सूक्तम् ६ ॥

१-४॥ अथर्वा ऋषिः। १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः ११×४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः—सब सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो
मित्रो अग्निः। इममादित्या उत विश्वे च देवा
उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन्। वसु। वसवः। धारयन्तु। इन्द्रः। पूषा। वरुणः। मित्रः। अग्निः। इमम्। आदित्याः। उत। विश्वे। च। देवाः। उत्-तरस्मिन्। ज्योतिषि। धारयन्तु ॥ १ ॥

(वेत्थ) विद ज्ञाने—लट्। त्वं जानासि (गुहा) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति गुहू संवरणे—क, टाप् च। गूहति रक्षतीति। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। इति विभक्तिलोपः। गुहायाम्, गर्त्ते, गह्वरे, गुप्तस्थाने (सताम्) अस सत्तायां—शतृ। विद्यमानानाम्। निवसताम् (अत्रिणाम्) १। ७। ३। अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम् (जात-वेदः) १। ७। २। हे जातविद्य ! (ब्रह्मणा) बृहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ—मनिन्, नकारस्य अकारः, रत्वं च। ब्रह्म अन्नम्—निघ० २। ७। तथा, धनम्—निघ० २। १०। वेदेन। वेदज्ञानेन। परमेश्वरेण (वावृधानः) वृधु वृद्धौ—लिटः कानच्, छन्दसि दीर्घः। प्रवृद्धः (जहि) म० ३। मारय (शत-तर्हम्) शतं बहुनाम—निघ० ३। १। तृह हिंसायाम्—घञ्। बहुविधहिंसनम् ॥

भाषार्थ—(वसवः) प्राणियों के बसाने वाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुझ में] (वसु) धन को (धारयन्तु) धारण करें। (आदित्याः) प्रकाशवाले [बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष] (उत च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार जाननेहारे महात्मा (इमम्) इस को [मुझको] (उत्तरस्मिन्) अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें ॥ १ ॥

भावार्थ-चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं। अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—(अस्मिन्) उपासके, मयि, इत्यर्थः। म० ४ (वसु) शृस्वृस्निहित्रप्यसि०। उ० १। १०। इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च—उप्रत्ययः। निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् (वसवः) पूर्ववत्, वस-उ। श्वसोवसीयश्श्रेयसः। पा० ५। ४। ८०। अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची। प्राणिनां वासयितारः, प्रकाशमानाः। प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः (धारयन्तु) धृञ् धारणे-चुरादिः। स्थापयन्तु (इन्द्रः) १। २। ३। परमेश्वरः। सूर्यः (पूषा) श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५६। इति पुष पुष्टौ, पूष वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो निपात्यते। पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वान्नैः प्रजाः। पूषा पृथिवीनाम-निघ० १। १ (वरुणः) १। ३। ३। वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः। वृष्टिजलम्। मेघः (मित्रः) १। ३। २। डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्र। वायुः। अहरभिमानी देवः—इति सायणः (अग्निः) १। ६। २। औवंजाठरवैद्युतादिरूपः प्रकाशः। वह्निः (इमम्) उपासकम् (आदित्याः) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीपी दीप्तौ—यक्। निपातितः। यद्वा। दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। पा० ४। १। ८५। इति अदिति-ण्य-प्रत्ययः, अपत्यार्थे। अदितिः=पृथिवी-निघ० १। १। वाक्-निघ० १। ११। अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४। २२। अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किंचित् प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः—निरु० ७। ११। आदातारः, ग्रहीतारो गुणानाम्। प्रकाशमानाः। भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः। सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः। सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः । उत । वा । हिरण्यम् । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार जानने हारे महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे । (सपत्नाः) सब बैरी (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें । (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एतम्) इस को [मुझ को] (अधि) ऊपर (रोहय=०—यत) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः (देवाः) १ । ४ । ३ । दिवु व्यवहारे–अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः (उत्-तरस्मिन्) उत्कृष्टे (ज्योतिषि) द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ–इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे (धारयन्तु) स्थापयन्तु ॥

२—(अस्य) उपासकस्य (देवाः) म० १ । हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा (प्रदिशि) सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्विप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् (ज्योतिः) म० १ । तेजः, प्रकाशः (सूर्यः) १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः (अग्निः)

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः ।
तेन त्वमग्न इह वर्धये मं सजातानां श्रैष्ठ्य आ
धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सम्-अभरः । पयांसि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा । जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् । स-जातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः । पावकः (हिरण्यम्) हर्यतिः कान्तिकर्मा–निघ० २ । ६ । हर्यतः कन्यन् हिर् च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य्य गतिकान्त्योः–कन्यन्, हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृञ् हरणे–कन्यन् हिर् च । ह्रियते जनाज्जनं व्यवहरार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्यनामसु–निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः (स-पत्नाः) सह+पत् पतने ऐश्ये च–न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह मतित्ववन्तः । शत्रवः (अधरे) न+धृञ्–अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अपकृष्टाः (उत्-तमम्) उत्+तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत्+तमु इच्छायाम्–अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् (नाकम्) कं सुखम् अकं दुःखम्, तन्नास्त्यत्रेति नाकः । नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । अथवा पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति णी प्रापणे–आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् । आकाशम् । आदित्यलोकम् (अधि) उपरि (रोहय) रुह जन्मनि, प्रादुर्भावे–णिच्–लोट् । एक वचनं बहुवचने । उन्नयत यूयम् (इमम्) उपासकम् ॥

भाषार्थ-(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भर रक्खा है। (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है। मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥ ३ ॥

(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है, इस में यह प्रमाण है—मनु १२। १२३।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्

इन्द्रमेके ऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम् ॥ १ ॥

इस को कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—(येन) ब्रह्मणा (इन्द्राय) १। २। ३। जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय। (सम्-अभरः) डुभृञ् भरणे, पोषणे—लङि सिप्। सम्यग् भृतवानसि पोषितवानसि (पयांसि) १। ४। १। दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् (उत्-तमेन) म० २। अतिश्रेष्ठेन (ब्रह्मणा) १। ८। ४। वेदज्ञानेन (जात-वेदः) १। ७। २। हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर (तेन) ब्रह्मणा (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इह) अत्र, अस्मिन् जन्मनि (वर्धय) वृधु-णिच्। समर्धय। (इमम्) उपासकं, माम् (स-जातानाम्) समान+जनीप्रादुर्भावे—क्त। जनसनखनां सञ्झलोः। पा० ६। ४। ४२। इति आत्वम्। समानस्य छन्दस्यमूर्ध०। पा० ६। ३। ८४। इति समासे समानस्य सभावः। समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये (श्रैष्ठ्ये) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च। पा० ५। १। १२४। इति श्रेष्ठ—ष्यञ्। श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे (आ) समन्तात्—यथाविधि। (धेहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट्। धारय, स्थापय (एनम्) उपासकम ॥

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्ता-
न्यग्ने । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि
रोहयेमम् ॥ ४ ॥

आ । एषाम् । यज्ञम् । उत । वर्चः । ददे । अहम् । रायः ।
पोषम् । उत । चित्तानि । अग्ने । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे ।
भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों के] दिये (यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती (उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आ ददे) ग्रहण करता हूं । (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इस को [मुझे] (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—(एषाम्) स्वपुरुषाणाम् (यज्ञम्) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् । पा० ३ । ३ । ९० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु-नङ् । पूजाम्, कीर्त्तिम् (वर्चः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । नित्त्वात् आद्युदात्तः । वर्चः, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । रूपम् । तेजः (आ-ददे) आङ् पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे-लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि (रायः) रातेर्डैः । उ० २ । ६६ । इति रा दाने-डै प्रत्ययः, रै । धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ-घञ् । पोषणं वर्धनं समृद्धिम् (रायस्पोषम्) षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सः (चित्तानि) चित ज्ञाने—क्त । मनांसि, मानसबलानि (अग्ने) म० ३ । हे परमेश्वर (सपत्नाः ………… इमम्) व्याख्यातं म० २ ॥

सूक्तम् १० ॥

१–४ ॥ अथर्वा ऋषिः । वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या
वरुणस्य राज्ञः । ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान
उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राणदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (वि राजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य (हि) ही है। (ततः) इस लिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा (शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोध से (इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूं ॥ १ ॥

१—(अयम्) पुरोवर्ती (देवानाम्) १।४।३। दिव्यगुणवतां विदुषाम् (असुरः) असेरुरन्। उ० १।४२। इति असु क्षेपे–उरन्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६।१।१९७। इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः। अस्यति शत्रून्। यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु–उरन्। असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा साधून्। यद्वा। असुं प्राणं राति ददातीति, असु+रा दानादानयोः–क। मेघनाम–निघ० १।१०। असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापिवासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था असुरत्वमादिलुप्तम्–निरु० १०।३४। क्षेप्ता। शूरः। व्यापकः। दीप्यमानः। ग्रहीता। प्राणदाता। प्रज्ञावान्। यद्वा, मेघवद् उदारः। वरुणविशेषणमेतत् (वि) विशेषेण (राजति) राजृ दीप्तौ। दीप्यते, ईष्टे ईश्वरो भवति–निरु० २।२१ (वशा) वशस्पृहि–अप्, टाप्। इच्छा, स्पृहा।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रक्खें ॥ १ ॥

नमस्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्युग्र निचिकेषि द्रुग्धम्। सहस्रमन्यान् प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥ २ ॥

नमः । ते । राजन् । वरुण । अस्तु । मन्यवे । विश्वम् । हि । उग्र । नि-चिकेषि । द्रुग्धम् । सहस्रम् । अन्यान् । प्र । सुवामि । साकम् । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा, (ते) तुझ (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (उग्र) हे प्रचंड ! तू (विश्वम्) सब (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि) सदा जानता है । [मैं] (सहस्रम्) सहस्र (अन्यान्) दूसरे जीवों को (साकम्)

(हि) अवश्यम् । यस्मात् (सत्या) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति सत्+यत् टाप् । सद्भ्यो हिता, अवितथा (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । व्रियते स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य (राज्ञः) राजति, ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन (शाशदानः) शद्लृ शातने यङ्लुगन्ताद् छन्दसि शानच् । शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी (उग्रस्य) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ०२।२८। इति उच समवाये-रक् । उच्यति क्रुधा सम्बध्यते। उत्कटस्य, प्रचण्डस्य (मन्योः) यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृतौ च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । क्रोधात् (उत् + नयामि) उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२—(राजन्) म० १ । हे ऐश्वर्यवन् (वरुण) म० १ । हे परमेश्वर ! (मन्यवे) म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय (नि-चिकेषि) कि ज्ञाने—लट्,

एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूं, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदु॒वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
राज्ञ॒स्त्वा स॒त्यध॑र्मणो मुञ्चामि॒ वरु॑णाद॒हम् ॥ ३ ॥

यत् । उ॒वक्थ॑ । अनृ॑तम् । जि॒ह्वया॑ । वृ॒जि॒नम् । ब॒हु ।
राज्ञः॑ । त्वा॒ । स॒त्य-ध॑र्मणः । मु॒ञ्चामि॑ । वरु॑णात् । अ॒हम् ॥३॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्वया) जिह्वा से (उवक्थ) तू बोला है । (अहम्) मैं (त्वा) तुझ को (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, (वरुणात्) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः । त्वं नितरां जानासि (द्रुग्धम्) द्रुह जिघांसायाम्-भावे-क्त । द्रोहम्, अपराधम् (सहस्रम्) सहो बलमस्त्यस्मिन्, सहस्+रप्रत्ययो मत्वर्थे । बहुनाम—निघ० ३ । १ । बहून्, अनेकान् (अन्यान्) माछाशासिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवान्, प्राणिनः । इतरान् वा (प्र+सुवामि) षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, ङित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ् । प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं नयामि, उपकरोमि (साकम्) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति षो अन्तकर्मणि-कन् । सह, समम् (शतम्) बहुनाम, निघ० ३ । १ । वह्वीः (जीवाति) जीव प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । जीवेत् । (शरदः) श्रदृ भसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति शॄ हिंसायाम्—अदि । कालाध्वनोरत्यसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आश्विनकार्तिक-मास-युक्तान् ऋतुविशेषान् । संवत्सरान् ॥

३—(यत्) वचनम् (उवक्थ) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लिट्, त्वम् उक्तवानसि (अनृतम्) न ऋतम् । असत्यं । मिथ्याभाषणम् (जिह्वया)

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी हो कर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानरात् । अर्णवात् । महतः । परि । स-जातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अप । चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा!] (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर!] (सजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आ वद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवाह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन, हुक् आगमे निपातितः । जयति रसमनया । रसनया (वृजिनम्) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने-इनच्, स च कित् । पापम् (बहु) अधिकम् (राज्ञः) म० १ । अध्यक्षात् (त्वा) त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् (सत्य-धर्मणः) धर्मादनिच् केवलात् । पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य+धर्म—अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात् (मुञ्चामि) मुच्लृ मोक्षे-लट् । मोचयामि, वियोजयामि (वरुणात्) म० १ । श्रेष्ठात् परमेश्वरात् (अहम्) उपासकः ॥

४—(परि+मुञ्चामि) म० ३ । सर्वथा मोचयामि (वैश्वानरात्) नॄ प्रापणे-अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । १२६ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् । यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ-मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-६ ॥ अथर्वा ऋषिः । पूषा देवता । १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ६+१०+६+११=३६, २, ३ अनुष्टुप् ८×४, ४-६ पंक्तिः ८×५ ॥

सृष्टिविद्यावर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषंट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावंर्यमा होता कृणोतु वेधाः । सिस्रंतां नार्यृतप्रंजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उं ॥ १ ॥

वषंट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः । सिस्रंताम् । नारी । ऋत-प्रंजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । ऊं इतिं ॥ १ ॥

अण् । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः-निरु० ७ । २१। सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् (अर्णवात्) केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र । अर्णसोलोपश्च । इति वार्तिकम् । अर्णस्+व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात्, समुद्रवद् गम्भीरस्वभावात् (महतः) वर्तमाने पृषद् बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति मह पूजायाम्-अति । बड्रात् । विशालात् (सजातान्) समानजन्मनः पुरुषान् (उग्र) म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिन् वरुण ! (आ+वद) समन्तात् कथय, उपदिश (ब्रह्म) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् (अप) आनन्दे—इति शब्दस्तोममहानिधौ (चिकीहि) म० २ । कि ज्ञाने—लोट । जानीहि ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है । (अस्मिन्) इस समय पर (सूतवै) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्याय कारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे । (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवाली (नारी) नर का हित करने हारी स्त्री (सिस्रताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहाताम्) कोमल होजावें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रक्खे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—(वषट्) वह प्रापणे-डषटि । इति शब्दस्तोममहानिधौ । आहुतिः, हविर्दानम् । भक्तिः । स्वाहा (पूषन्) १ । ६ । १ । पुष्णातीति पूषा । हे सर्वपोषक, परमेश्वर (अस्मिन्) अस्मिन् काले, इदानीम् (सूतौ) षूङ् प्राणिप्रसवे-क्तिन् । सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वार्तिकम्, पा० ७ । १ । ३६ । इति द्वितीयार्थे सप्तमी । प्रसवकर्म, जन्म (अर्यमा) ऋ गतौ-यत् । अर्यः श्रेष्ठः । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति अर्य+मा माने-कनिन् । अर्य्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । अर्यमादित्योऽरीन् नियच्छति-निरु० ११ । २३ । यथार्थज्ञाता, न्यायकारी (होता) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ होत्रिति । उ० २ । ९६ । इति हु दानादानादनेषु । यद्वा ह्वेञ् आह्वाने-तृन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । दाता । होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाता (कृणोतु) कृवि हिंसाकरणयोः—लोट् । भवान् पूषा उपकरोतु (वेधाः) विधाञो वेध च । उ० ४ । २२५ । वि+धाञ् धारण-पोषणदानेषु—असि, वेधादेशः । यद्वा विध विधाने-असुन् । विशेषेण दधातीति । ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता । मेधावी-निघ० ३ । १५ । विधाता, रचयिता (सिस्रताम्) सृ गतौ—लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । अभ्यासस्य इत्वम् पुनरपि विकरणः शः । गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु (नारी) ऋतोऽञ् । पा० ४ । ४ । ४६ । इति नृ नीतौ-अञ् । नृणाति नयतीति नरः । नराच्चेति वक्तव्यम् । तत्र वार्त्तिकम् । नर-अञ् । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् नुर्नरस्य वा धर्म्या नरधर्माचारयुक्ता । स्त्री, वधूः (ऋत-प्रजाता) अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ ।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ।
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥ २ ॥

चतस्रः । दिवः । प्र-दिशः । चतस्रः । भूम्याः । उत । देवाः । गर्भम् । सम् । ऐरयन् । तम् । वि । ऊर्णुवन्तु । सूतवे ॥२॥

भाषार्थ—(दिवः) आकाश की (चतस्रः) चारो (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप् । ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः । सत्यप्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या (पर्वाणि) पर्व गतौ-कनिन् । यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पूर्त्तौ पालने च-वनिप् । शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः (वि+जिहताम्) ओहाङ् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहोत्यादिः । विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भवन्तु (सूतवै) तुमर्थे सेसेन्० पा० ३ । ४ । ६ । इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः । प्रसवार्थम् ॥

२—(चतस्रः) त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ । पा० ७ । २ । ६६ । इति चतुर्शब्दस्य जसि चतस्रादेशः । अचि र ऋतः । पा० ७ । २ । १०० । इति रेफादेशः । चतुः संख्याकाः (दिवः) १ । ११ । २ । आकाशस्य (प्र+दिशः)

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है। यजुर्वेद १४। २० में यह देवता कहे हैं।

अग्निर्देवता। वातो देवता। सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवता। वसवो देवता। रुद्रो देवता। आदित्या देवता। मरुतो देवता। विश्वे देवा देवता। बृहस्पतिर्देवता। इन्द्रो देवता। वरुणो देवता॥

अग्नि १, वायु २ सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सबके बसाने वाले अन्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद बचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि।
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

सूषा। वि। ऊर्णोतु। वि। योनिम्। हापयामसि।
श्रथय। सूषणे। त्वम्। अव बिष्कले। सृज॥ ३॥

१। ९। २। प्रकृष्टा दिशः। प्राच्याद्याः प्रधानदिशः (भूम्याः) भुवः कित्। उ० ४। ४५। इति भू सत्तायां-मि। कृदिकारादक्तिनः। इति पक्षे ङीष्। पृथिव्याः, भूलोकस्य (देवाः) १। ४। ३। दिव्यपदार्था अग्न्यादयः। विद्वांसश्च।
(गर्भम्) अर्त्तिगृभ्यां भन्। उ० ४। १५२। इति गॄ विज्ञापने, निगरणे च भन्। गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशक्रयोगेण स गर्भः। भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम् (सम्) सम्यक्, यथाविधि (ऐरयन्) ईर गतौ लङ्। संगतमकुर्वन् (वि+ऊर्णुवन्तु) ऊर्णुञ् आच्छादने-लोट्। विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु (सूतवे) तुमर्थे सं सेन से०। पा० ३। ४। ९। इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन्। नित्त्वात् आद्युदात्तः। प्रसवितुम्॥

भाषार्थ—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यर्णोतु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हम प्रस्तुत करते हैं। (सूषणे) हे जन्म देने हारी माता ! (त्वम्) तू (श्रथय) प्रसन्न हो। (विष्कले) हे वीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [बालक को] उत्पन्न कर ॥३॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रक्खें। माता के प्रसन्न और सुखी रहने से बालक भी प्रसन्न और सुखी होता है। प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रक्खें कि प्रसूता स्त्री और बालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

नेवं मांसे न पीवंसि नेवं मज्जस्वाहंतम् ।
अवैंतु पृश्नि शेवंलं शुनें जुराय्वत्तवेऽवं जुरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥

न-इंव । मांसे । न । पीवंसि । न-इंव । मुज-सु । आ-हंतम् । अवं । एतु । पृश्निं । शेवंलम् । शुनें । जुरायु । अत्तवे । अवं । जुरायु । पद्यताम् ॥ ४ ॥

३—(सूषा) सूषति प्रसवतीति । षूष, सूष वा प्रसवे-अच् , टाप् । सवित्री जननी, माता (वि+ऊर्णोतु) म० १ । अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु (योनिम्) वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित् । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणा मश्रणयोः-नि । योनिर्गृहनाम-निघ० ३ । ४ । गृहम् । प्रसूतिकागृहम् (वि+हापयामसि) ओ हाङ् गतौ—णिच् । अर्त्तिह्री० । पा० ७ । ३ । ३६ । इति पुगागमः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इकारः । विहापयामः । विशेषेण गमयामः । प्रस्तुतं कुर्मः (श्रथय) श्रथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः । यतस्व । हृष्टा भव (सूषणे) संपदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति षूङ् प्रसवे-क्विप् । सूः सवनम् , उत्पत्तिः । छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । ३ । २७ इति सू+षण दाने-इन् । सुवं सनोति ददातीति सूषणिः । तत्सम्बोधनम् । हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि ! (विष्कले) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः । टाप् । हे वीरे, शूरे । दर्शनीये (अव+सृज) उपसर्गस्य व्यवधानम् । सृज विसर्गे । गर्भं बालकम् उत्पादय ॥

भाषार्थ—[वह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मींग में (आहतम्) बंधी हुयी है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेली वा झिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (एतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जरायु एक झिल्ली होती है जिसे जेली वा जेरी कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाती है और सार रहित होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उस के रह जाने से रोग हो जाता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

४—(न-इव) इव अवधाने। नैव (मांसे) मनेर्दीर्घश्च। उ० ३। ६४। इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च। रक्तजधातुविशेषे (न) निषेधे (पीवसि) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति पीव स्थौल्ये-असुन्। ञित्यादिर्नित्यम्। पा० ६।१।१९७। इति नित्वाद् आद्युदात्तः। स्थूलत्वे (मज्जसु) श्वनुक्षन् पूषन्०। उ० १। १५६। इति मस्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च। अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु (आ-हतम्) आङ्+हन बधे गतौ च—क। संबद्धम् (अव) अवाक्, अधस्तात् (एतु) गच्छतु, पततु (पृश्नि) घृणिपृश्नीति। उ० ४। ५२। इति स्पृश स्पर्शे-नि, सलोपः। स्वल्पम् (शेवलम्) शीङो धुक्लक् वलञ् वालनः। उ० ४। ३८। इति शीङ् शयने-वालन्, ह्रस्वो वा, नित्वाद् आद्युदात्तः। जलस्योपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा। तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु (शुने) श्वनुक्षन्पूषन्। उ० १। १५६। इति श्वि गतौ-कनिन्। कुक्कुराय (जरायु) किंजरयोः श्रिणः। उ० १। ४। इति जरा+इण् गतौ-ञुण्। गर्भ वेष्टनचर्म। उल्वम्। मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निःसरति (अत्तवे) तुमर्थे सेसेन्०। पा० ३। ४। ९। इति अद भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः। भक्षितुम् (पद्यताम्) पद गतौ दिवादित्वात् श्यन्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते । भिनद्मि । मेहनम् । वि । योनिम् । वि । गवीनिके इति । वि । मातरम् । च । पुत्रम् । च । कुमारम् । जरायुणा । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गवीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष कर के (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा) जरायु से (वि वि) अलग अलग [करती हूं], (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ-इस मन्त्र में धात्रेयी [धायी] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता के अंगों का आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—(वि+भिनद्मि) भिदिर् विशेषकरणे, द्विधाकरणे च । मलात् पृथक् करोमि, विश्लेषयामि (मेहनम्) १।३।७। गर्भमार्गम् । वि=विभिनद्मि । एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम् (योनिम्) म० ३ । गर्भाशयम् । (गवीनिके) १।३।६। पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ (मातरम्) १।२।१। मान्यते पूज्यते सा माता । जननीम् (पुत्रम्) पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४।१६५। इति पूङ् शोधे क, । ह्रस्वश्च धातोः । पुनाति पित्रादीनिति पुत्रः । पुत्रः पुरुत्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा-इति यास्कः, निरु० २।११। पुरु+त्रैङ् रक्षणे—ड । यद्वा, पुत् त्रैङ्-ड । यथा च रामयणे । २।१०७।१२। पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः । तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ अपत्यम् । सन्तानम् (कुमारम्) कुमार क्रीडने-अच् । क्रीडा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रक्खे और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहें ॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव । त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अवं । जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलते हैं। (एव) वैसे ही (दशमास्य) हे दश महीने वाले [गर्भ के बालक !] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है ॥ ६ ॥

शीलम् । शिशुम् (जरायुणा) म० ४ । गर्भवेष्टनचर्मणा । अन्यत् गतम्—म० ४ ।

६—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) हसिमृग्रिण् वा० । उ० ३ । ८६ । इति वा सुखाप्तिगतिसेवासु-तन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वायुः, पवनः (मनः) १ । १ । २ । ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम् (पतन्ति) शीघ्रं गच्छन्ति उड्डीयन्ते (पक्षिणः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पक्ष—इनि । विहगाः (एव) निपातस्य च । पा० । ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । एवम्, तथा (दश-मास्य) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । पा० २ । १ । ५१ । इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।
एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अष्टमे मासि याते च अग्नियोगः प्रवर्त्तते ।
मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥
जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।
दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में बास करने के कारण उस को वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्धितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो (साकम्) सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १९ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया (पत) अधो गच्छ (अव) इत्यादि गतं म० ४ ।

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोगनिवृत्तिः । १-३ त्रिष्टुप् ११×४, ४ अनुष्टुप् ॥

१, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४ रोगनिवृत्तः—१, २ ईश्वर के गुण और ३, ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्त्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्त्रियः । वृषा । वात-भ्रजाः । स्तनयन् । एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजु-गः । रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरायुजः) झिल्ली से [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहले से वर्तमान, (उस्त्रियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वातभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघ रूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृष्ट्या) बरसा के साथ (एति) चलता रहता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को]

१—(जरायुजः) पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ९८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः-ड । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः । जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता (प्रथमः) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति

मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (मृडाति) सुख देवे, (यः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकार से (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही (उस्रियः) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर (वातभ्रजाः) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालज्ञ और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथ ख्यातौ—अमच् । आदिमः, जगतः पूर्वं वर्तमानः (उस्रियः) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसन्त्येषु सूर्यादिपरतेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उस्राः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान्, हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः (वृषा) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्ययोः–कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्वद् वर्तमानः (वातभ्रजाः) वात+भ्रस्ज पाके वा भ्राज दीप्तौ–असुन् । वातेन सह पाकः, दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः (स्तनयन्) स्तन देवशब्दे, चुरादिः,–शतृ । गर्जयन् (एति) गच्छति (वृष्ट्या) वृषु सेचने–क्तिन् । वर्षणेन (मृडाति) मृड सुखने-लेट्, आडागमः । सुखयेत् (तन्वे) १ । १ । १ । स्वरितश्च । शरीराय (ऋजुगः) ऋजु+गम्लृ–ड । सरलगामी (रुजन्) रुजो भङ्गे, तुदादिः–शतृ । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् (एकम्) इण् भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ–कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम्, केवलम् (ओजः) उब्जेर्बले बलोपश्च । उ० ४ । १९२ । इति उब्ज आर्जवे–असुन् । बलम्, तेजः (त्रेधा) संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण, भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन (वि-चक्रमे) क्रमु पादविक्षेपे–लिट्, वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ । ४१ । इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३।४॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

(हिरण्यगर्भ) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था। उस ने इस पृथिवी और प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर की भक्ति से सेवा किया करें॥

और भी देखो—ऋ० १।२२।१७।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्] में अनेक अनेक प्रकार से पग को बढ़ाया, उस ने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं से युक्त [संसार] में जमाया॥

सायणभाष्य में (वातभ्रजाः) के स्थान में (वातव्रजाः) शब्द और अर्थ "वायु समान शीघ्रगामी" है॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम। अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

अङ्गे-अङ्गे। शोचिषा। शिश्रियाणम्। नमस्यन्तः। त्वा। हविषा। विधेम। अङ्कान्। सम्-अङ्कान्। हविषा। विधेम। यः। अग्रभीत्। पर्व। अस्य। ग्रभीता॥ २॥

भावार्थ—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में

२—(अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग चिन्हकरणे-अच्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८।१।४

(शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (त्वा) तुझ को (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुये हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उस के] (अङ्कान्) पृथक् पृथक् चिन्हों को और (समङ्कान्) मिले हुये चिन्हों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराधें, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह (वृषा-म० १) परमात्मा हमारे और सब व्यस्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११९ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु अवयवेषु (शोचिषा) अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे=शुद्धौ-इसि । दीप्त्या, प्रकाशेन (शिश्रियाणम्) लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । श्रिञ् सेवायाम्–कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयङादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् (नमस्यन्तः) नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् । पा० ३ । १ । १९ । इति नमस्—क्यच् पूजायाम्, लटः शतृ । पूजयन्तः (त्वा) त्वां वृषाणम् । (हविषा) १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या (विधेम) विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि (अङ्कान्) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः—कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् वर्तमानान् गुणान् (सम्-अङ्कान्) सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् (अग्रभीत्) ग्रह उपादाने—लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् (पर्व) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालने, पूर्तौ—वनिप् । प्रत्येकावयवम् । (ग्रभीता) ग्रह उपादने—तृच् । हस्य भः । ग्रहीता, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य। यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च। शीर्षक्त्याः। उत। कासः। एनम्। परुः-परुः। आविवेश। यः। अस्य। यः। अभ्र-जाः। वात-जाः। यः। च। शुष्मः। वनस्पतीन्। सचताम्। पर्वतान्। च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षक्त्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और [उस खांसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खांसी ने (अस्य) इस पुरुष के (परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है। (यः) जो खांसी (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी [होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सचताम्) संबन्ध वाला होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का घर हांसी और रोग का घर खांसी"। जैसे सद्वैद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—(मुञ्च) मुच्लृ मोक्षणे। मोचय (शीर्षक्त्याः) शीर्ष + अञ्चु गतिपूजनयोः–क्तिन्। शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्शक्तिः, तस्याः शिरः–पीड़ायाः सकाशात् (उत) अपि च (कासः) हलश्च। पा० ३। ३। १२१। इति कासृ शब्दकुत्सनयोः—घञ्। रोगविशेषः। कासी वा खांसी इति भाषा। त्वयथुः (परुः-परुः) अर्त्तिपॄवपियजि०। उ० २। ११७। इति पॄ पूर्त्तिपालनयोः–उसि। सर्वान् शरीरसन्धीन् (आ-विवेश) विश प्रवेशने–लिट्। छान्दसो दीर्घः। प्रविष्टवान् (अभ्रजाः) अप् + भृ-क। अपो बिभर्त्तीति अभ्रं मेघः। जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इतिअभ्र + जनी प्रादुर्भावे–विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति आत्वम्। मेघस्य सम्बन्धाज्जातः (वातजाः) पूर्ववत्। वात + जनी–विट्। वायोर्जात उत्पन्नः कासः (शुष्मः) अर्विसिविशुषिभ्यः कित्। उ० १। १४४। इति

की पीड़ा और खांसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है। इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबंध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे॒ पर॑स्मै॒ गात्रा॑य॒ शम॒स्त्वव॑राय मे ।
शं मे॑ च॒तुर्भ्यो॒ अङ्गे॑भ्यः॒ शम॑स्तु त॒न्वे॒ ३॒ मम॑ ॥४॥

शम् । मे॒ । पर॑स्मै । गात्रा॑य । शम् । अ॒स्तु॒ । अव॑राय । मे॒ ।
शम् । मे॒ । च॒तुः॒-भ्यः॑ । अङ्गे॑भ्यः । शम् । अ॒स्तु॒ त॒न्वे॑ । मम॑ ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के [शरीर के] लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित्। शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः (वनस्पतीन्) १। ३५। ३। वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः। वनति सेवते अथवा वन्यते सेव्यते इति वनम्। वन सेवने, याचने, उपकारे-अच्। पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्। पा० ६। १। १५७। इति सुडागमः। सर्ववृत्तान् (सचताम्) षच समवाये-लोट्। सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६। ३३। समवैतु, सम्बध्नातु (पर्वतान्) भृमृदृशियजिपर्विपचि। उ० ३। ११०। इति पर्व पूरणे-अतच्। शैलान् ॥

४—(परस्मै) १। ८। ३। श्रेष्ठाय, उपरिवर्तमानाय (गात्राय) गमेरा च। उ० ४। १६६। इति गम्लृ-त्रन्, मस्य आकारः। गच्छति चेष्टतेऽनेन। अङ्गाय, शरीराय (अवराय) १। ८। ३। निकृष्टाय, अवस्माद् वर्तमानाय (चतुः-भ्यः) चतुःसंख्येभ्यः। द्वौ हस्तौ, द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः (अङ्गेभ्यः) अङ्ग पदे=गतौ-अच्। अङ्गयति चेष्टतेऽनेन। अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः (तन्वे) म० १। शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं। मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रक्खे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ नुअष्टुप्, ३, ४ जगती १२×४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नम॑स्ते अस्तु विद्युते॒ नम॑स्ते स्तनयित्नवे॑ ।
नम॑स्ते अस्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दूडाशे॒ अस्य॑सि ॥ १ ॥

नम॑ः । ते॒ । अस्तु॒ । वि॒-द्युते॑ । नम॑ः । ते॒ । स्त॒न॒यि॒त्नवे॑ ।
नम॑ः । ते॒ । अस्तु॒ । अश्म॑ने । येन॑ । दुः॒-दाशे॑ । अस्य॑सि ॥१॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तुझ (विद्युते) कौंधा लेती हुयी, बिजुली समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (स्तनयित्नवे) गड़-गड़ाते हुये, बादलसमान को (नमः) नमस्कार होवे। (ते) तुझ (अश्मने) पाषाण समान को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दूडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू ढा देता है ॥ १ ॥

१—(विद्युते) भ्राजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि+द्युत दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रूपाय । (स्तनयित्नवे) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् । उ० ३ । २९ । इति स्तन देवशब्दे-इत्नुच् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः । अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादेशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय (अश्मने) अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशूङ् व्याप्तिसंहत्योः—मनिन् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय (दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधिदैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इस लिये सब मनुष्य उस के कोप से डर कर उसकी आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥
नमः । ते । प्र-वतः । नपात् । यतः । तपः । सम्-ऊहसि ।
मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को (समूहसि) संयुक्त करता है । (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये (मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे) दुर्+दाशृ दाने-घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । अत्र । दुरो दाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । इति वार्त्तिकेन ऊत्वं डत्वं च । दुर् दुःखं दाशति ददातीति दूडाशः । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं पुरुषम् (अस्यसि) असु क्षेपणे—श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—(प्र-वतः) प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ=सेवने, याचे च-क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य सेवकस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे (नपात्) नञ् पूर्वकात् पत अधःपतने, णिच्—क्विप् । नभ्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशील ! धारयितः । (नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पातो धर्मात् पतनं यस्य सः-इति श्रीमद्दयानन्दः (यतः) यस्मात् कारणात् (तपः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तप सन्तापे—असुन । सन्तापम् (सम्+ऊहसि) ऊह वितर्के ।

भावार्थ—परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है। सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रवतो नपान् नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः। विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ ३ ॥

प्र-वतः। नपात्। नमः। एव। अस्तु। तुभ्यम्। नमः। ते। हेतये। तपुषे। च। कृण्मः। विद्म। ते। धाम। परमम्। गुहा। यत्। समुद्रे। अन्तः। नि-हिता। असि। नाभिः ॥ ३॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले! (तुभ्यम्) तुझ को (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र समान को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोप आदि अस्त्रसमान को (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं। (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊंचे (धाम) धाम [निवास] को (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं। (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संघीकरणे। संहतं करोषि, संयोजयषि (मृडय) मृड तोषणे। तोषय, अनुगृहाण (तनूभ्यः) १।१।१। शरीरेभ्यः। तेषां हिताय (मयः) मिञ् हिंसायाम्-असुन्। मिनोति दुःखम्। सुखम्। निघ० ३। ६ (तोकेभ्यः) कुदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। इति तु वृद्धौ पूर्तौ-क प्रत्ययः। तौति पूरयति गृहमिति तोकम्। अपत्यनाम-निघ०। २।२। अपत्येभ्यः (कृधि) कुरु। देहि (तोकेभ्यस्कृधि) कः करत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः। पा० ८। ३। ५०। इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

३—(प्र-वतः नपात्) म० २। हे स्वभक्तस्य न पातयितः (हेतये) ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च। पा० ३।३। ९७। इति हन वधे गतौ च क्तिन्। एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्येते। यद्वा हि वर्धने गतौ च—क्तिन् निपातितश्च। हन्यन्तेऽनया शत्रवः। गम्यतेऽनया जयः, वर्द्धयते वैश्वर्यम्। हेतिः, वज्र-

(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्। सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम—निघ० ३ । २० । वज्राय, वज्ररूपाय (तपुषे) अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो-नित्। उ० २ । ११७। इति तप ऐश्वर्यसंतापदाहेषु-उसि। दाहकाय अस्त्राय, तद्रूपाय (कृण्मः) कृवि हिंसाकरणयोः—लट्। वयं कुर्मः (विद्म) विदो लटो वा। पा० ३।४। ८३। इति विद ज्ञाने, मसो मादेशः। विद्मः। वयं जानीमः। (धाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४। १४५। इति धा—मनिन्। स्थानम्, गृहम्। प्रभावम् (परमम्) आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३ । २ । ४ । इति पर+मा माने—क। उत्कृष्टम् (गुहा) १ । ८ । ४ । सप्तम्या लुक्। गुहायाम्, गर्ते हृदये। गुहावद् अगम्ये प्रदेशे (यत्) यस्मात् कारणात (समुद्रे) १ । ३ । ८ । अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३ । २ । १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ-डप्रत्ययः, यद्वा, स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २ । १३। सम्+मुद हर्षे—अधिकरणे रक्। यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने-रक्। सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे-निघ० १ । ३ (अन्तः) मध्ये (नि-हिता) दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि पूर्वात् धाञः—क्त, हिरादेशः। स्थापिता (नाभिः) नहो भश्च। उ० ४। १२६। इति णह बन्धने-इञ् प्रत्ययः ञिनत्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति आद्युदात्तः। नह्यति बध्नाति नाडीः। स्त्रीलिंगता। तुन्दकूपी। नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम् । त्वा । दे॒वाः । अस्रृ॑जन्त । विश्वे॑ । इषु॑म् । कृ॒ण्वा॒नाः । असंनाय । धृ॒ष्णुम् । सा । नः॒ । मृ॒ड । वि॒दथे॑ । गृ॒णा॒ना । तस्यै॑ । ते॒ । नम॑ः । अ॒स्तु॒ । दे॒वि॒ ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ [परमेश्वर] को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बनाकर (अस्रृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [दिव्य बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ ४ ॥

यजुर्वेद में लिखा है-यजु० १६ । ३ ॥

यामिषु॑ गिरिशन्त॒ हस्ते॑ बि॒भर्ष्यस्त॑वे ।
शि॒वां गि॑रित्र॒ तां कु॑रु॒ मा हि॑ꣳसीः॒ पुरु॑षं॒ जग॑त् ॥ १ ॥

४—(त्वा) प्रवतो नपातम्, म० ३ (देवाः) विद्वांसः (असृजन्त) सृज विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः (इषुम्) ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने-उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ—उ । बाणम् । शक्तिनामायुधम् (कृण्वानाः) कृवि हिंसाकरणयोः-शानच् । कुर्वाणाः (असनाय) असु क्षेपणे-भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय (धृष्णुम्) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्नु । प्रगल्भाम्, निर्भयाम् सुदृढाम् (मृड) मृडय, सुखय (विदथे) रुविदिभ्यां ङित् । उ० ३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्लृ लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्-अथ-प्रत्ययः । स च ङित् । विदथः, यज्ञनाम-निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः, लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि (गृणाना) गॄ शब्दे-शानच् । शब्दायमाना, उपदिशन्ती (देवि) हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्ते ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बरछी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है । हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव । स्रजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥१॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैं ने पाया है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को । (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—यह वर का वचन है । विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुणवती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है । वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—(भगम्) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कु घिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः, धननाम निघ० २ । १० । श्रियम् , ऐश्वर्यम्, कीर्त्तिम् (अस्याः) नवोढायाः स्त्रियाः सकाशात् (वर्चः) १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः (आ+अदिषि) आङ् पूर्वकात् डुदाञ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढ़चित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम । सा । मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति । पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि) नियम से (धूयताम्) व्यवहार करे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (बध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

(वृक्षात् इव) १ । २ । ३ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृञ् वरणे-क । वृक्ष्यते व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम् । विटपात् यथा । (स्रजम्) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति सृज विसर्गे-क्विन् । सृजति ददाति शोभामिति स्रक् । पुष्पमालाम् (महाबुध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशश्च । विशालमूलः, दृढमूलः (पर्वतः) १ । १२ । ३ । शैलः । भूधरः (ज्याक्) १ । ६ । २ । चिरकालम् (पितृषु) १ । २ । १ । रक्षकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु बन्धुषु (आस्ताम्) आस उपवेशने-लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—(राजन्) १ । १० । १ । हे ऐश्वर्यवन् जामातः (कन्या) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कन प्रीतौ, द्युतौ, गतौ,-यक्, टाप् च । कन्यते काम्यते दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री (वधूः) वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । वह प्रापणे—ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखानीति । यद्वा । बन्ध—ऊ,

भावार्थ—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं। वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रक्खे और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनु जी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लोक २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित् कार्यं गृहेष्वपि ॥ १ ॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक वा युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरों में भी न करे ॥

नलोपः। बध्नाति प्रेम्णा या नवोढा स्त्री, भार्या (नि) नितराम्, नियमेन (धूयताम्) धूञ् कम्पने-कर्मणि लोट्। चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् (यम) यम नियमने—अच्। यमयति नियमयति गृहकार्याणीति। यमो यच्छतीति सतः, मध्यस्थानदेवतासु—निरु० १० । १६ । द्युस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक वर ! (मातुः) १ । २ । १ । तव जनन्याः (बध्यताम्) बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमबद्धा भवतु (गृहे) गेहे कः। पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे (अथो) अथ + उ । अपि च (भ्रातुः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० । उ० २ । ६५ । इति भ्राज दीप्तौ—तृन् । सहोदरस्य (पितुः) म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

एषा ते॑ कुल॒पा रा॑जन् ता॒मु॑ ते॒ परि॑ दद्मसि ।
ज्योक् पि॒तृष्वा॑साता॒ आ शी॒र्ष्णः स॒मोप्या॑त् ॥ ३ ॥

एषा । ते॒ । कुल॒-पाः । रा॒जन् । ताम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । परि॑ । द॒द्म॒सि । ज्योक् । पि॒तृषु॑ । आ॒सा॒तै॒ । आ । शी॒र्ष्णः । स॒म्-ओप्या॑त् ॥३॥

भाषार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने हारी है, (ताम्) उस को (उ) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (दद्मसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आ शीर्ष्णः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुंच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—(कुलपाः) कुल+पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः। पातिव्रत्येन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री (राजन्) हे ऐश्वर्यवन् जामातः (ऊं इति) अवश्यम् (परि+दद्मसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम्। रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दद्मः, समर्पयामः (ज्योक्) म० १ । दीर्घकालम् (पितृषु) म० १ । मातापित्रादिबन्धुषु (आसातै) आस उपवेशने—लेटि आडागमः । टेः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः। आस्ताम्, निवसतु (आ-शीर्ष्णः) १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८९ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा। पञ्चम्यपाङ्परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्य्यन्तम् (सम्-ओप्यात्) सम्+आ+उप्यात् । वप बीजवपने मुण्डने च—आशीर्लिङ्। यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्य्यात् ॥ ३ ॥

असि॑तस्य ते॒ ब्रह्म॑णा क॒श्यप॑स्य॒ गय॑स्य च ।
अ॒न्तः॒को॒शमि॑व जा॒मयोऽपि॑ नह्यामि ते॒ भग॑म् ॥ ४ ॥

असि॑तस्य । ते॒ । ब्रह्म॑णा । क॒श्यप॑स्य । गय॑स्य । च॒ ।
अ॒न्तः॒-को॒शम्-इ॑व । जा॒मयः॑ । अपि॑ । न॒ह्या॒मि॒ । ते॒ । भग॑म् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [सोम] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूं । (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अन्तःकोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ-इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१ – ४ ॥ अथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४-(असितस्य) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् वन्धने-क्त, नञ्समासः । अबद्धस्य, मुक्तस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदज्ञानकारणेन (कश्यपस्य) कश शब्दे—बाहुलकात् करणे—यत् । कशति अनेनेति कश्यं सुखकरो रसः । कश्य+पा पाने—क । कश्यं सोमरसं पिबतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य (गयस्य) गै गाने—घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य (अन्तःकोशम्)-अन्तः+कुश संश्लेषणे-अधिकरणे घञ् । वस्त्रादिधारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् (जामयः) १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माताभगिन्यादयः (अपि) अवधारणे, अवश्यम् (नह्यामि) णह बन्धने श्यन् । बध्नामि (भगम्) म० १ ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः । इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्रवन्तु । सिन्धवः । सम् । वाताः । सम् । पतत्रिणः । इमम् । यज्ञम् । प्र-दिवः । मे । जुषन्ताम् । सम्-स्राव्येण । हविषा । जुहोमि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल [वहें] (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्) इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्राव्येण) बहुत आर्द्रभाव [कोमलता] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—(सम् सम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्त-सम्यक्, अत्यनुकूलाः (स्रवन्तु) स्रु गतौ, स्रवणे च—लोट् । गच्छन्तु, प्रवहन्तु (सिन्धवः) १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः (सम्=संस्रवन्तु) उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः प्रवर्तन्ताम् (वाताः) १ । ११ । ६ । विविधपवनाः (सम्) सम्यग् अनुकूलाश्चरन्तु (पतत्रिणः) पतत्रं पक्षः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पतत्र—इनि मत्वर्थे । पक्षिणः (इमम्) प्रवृतमानम् (यज्ञम्) १ । ६ । ४ । यागं विदुषां पूजनम् (प्र-दिवः) प्र+दिवु द्युतिस्तुतिगत्यादिषु—क्विप् । प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः—लोट् । सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु (सम्-स्राव्येण) स्रु गतौ—ण । तस्येदम् । पा० ४ ।

पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रक्खें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवें । और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रक्खें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥ २ ॥

इह । एव । हवम् । आ । यात । मे । इह । सम्-स्रावणाः । उत । इमम् । वर्धयत । गिरः । इह । आ । एतु । सर्वः । यः । पशुः । अस्मिन् । तिष्ठतु । या । रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ-(संस्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाव वाले [बड़े कोमल स्वभाव वाले] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो ! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आ यात) तुम पहुंचो, (उत) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ । (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥ २ ॥

---

३ । १२० । इति संस्राव-यत् । यद्वा । अचो यत् । पा० । ३ । १ । ९७ । इति सम्+ स्रु-णिच्-यत् । संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन आर्द्रभावेन युक्तेन (हविषा) १ । ४ । ३ । आत्मदानेन, भक्त्या (जुहोमि) हु दानादानादनेषु-लट् । अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—(हवम्) भावेऽनुपसर्गस्य । पा ३ । ३ । ७५ । इति ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धे च—अप् । आह्वानम् , आवाहनम् (आ+यात) या गतौ-लोट् । आगच्छत (इह) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम् । अस्मिन्नेव यज्ञे (सम्-स्रावणाः) स्रु स्रवणे गतौ-णिचि-ल्युट् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अन आदेशः । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । हे संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन, अत्यार्द्रभावेन युक्ताः (इमम्) उपस्थितं माम् (वर्धयत) वृधु वृद्धौ णिचि लोट् , छन्दसि दीर्घः ।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इस से मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू० ३४ म० १ ॥

य ईशे॑ पशुपतिः॑ पशूनां चतु॑ष्पदामुत यो द्विपदा॑म् ॥१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है ॥ १ ॥

ये नुदीनां सं॒स्रव॒न्त्युत्सा॑सः सद॒मक्षि॑ताः ।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ३ ॥

ये । नुदीना॑म् । सम्ऽस्रव॑न्ति । उत्सा॑सः । सद॑म् । अक्षि॑ताः ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । सम्ऽस्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्राव॒यामसि ॥३॥

भाषार्थ—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अक्षिताः) अक्षय (उत्सासः) स्रोते (सदम्) सर्वदा (संस्रवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्धयत (गिरः) गृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३।५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३। १४। गॄ शब्दे—कर्मणि क्विप्। गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः। हे अर्चनीयाः; स्तुत्याः पुरुषाः (आ+एतु) आगच्छतु (पशुः) अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १। २७। इति दृशिर् प्रेक्षणे-कु, पश्यादेशः। पशुः पश्यतेः—निरु० ३। १६। प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः (अस्मिन्) मयि, मदीये आत्मनि (तिष्ठतु) निवसतु (रयिः) अत्र इः। उ० ४। १३६। इति रीङ् गतौ-इ प्रत्ययः, गुणः। यद्वा। रा दानग्रहणयोः-इप्रत्ययः, युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च। धनम् ॥ २ ॥

३—(नदीनाम्) १। ८। १। नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् (सम्-स्रवन्ति) सम्भूय प्रवहन्ति (उत्सासः) उन्दिगुधिकषिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियें बनती हैं जो ग्रीष्म ऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षय धन बढ़ावें। और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये स॒र्पिषः॑ सं॒स्रव॑न्ति क्षी॒रस्य॑ चोद॒कस्य॑ च ।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि ॥ ४ ॥

ये । स॒र्पिषः॑ । स॒म्ऽस्रव॑न्ति । क्षी॒रस्य॑ । च॒ । उ॒द॒कस्य॑ । च॒ ।
तेभिः॑ । मे॒ । सर्वैः॑ । स॒म्ऽस्रा॒वैः । धन॑म् । सम् । स्रा॒व॒या॒म॒सि॒ ॥४॥

भावार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और (उदकस्य) जल की (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर बह चलतीं हैं। (तैः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धन को (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

---

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्थानानि, स्रोतांसि (सदम्) सर्वदा, ग्रीष्मादावपि (अक्षिताः) क्षि क्षये-क्त । अक्षीणाः (तेभिः) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐसभावः । तैः (मे) मम=अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने (सम्-स्रावैः) श्याऽद्व्यधास्रुसंस्त्वतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः (धनम्) धन धान्ये—अच् यद्वा, कृपृवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः क्यु । वित्तम्, सम्पदम् (स्रावयामसि) स्रु स्रवणे-णिचि लट्, इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—(ये) संस्रावाः प्रवाहाः (सर्पिषः) अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति सृप गतौ=सर्पणे-इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य (क्षीरस्य) घसेः किच्च । उ० ४ । ३४ । इति घस=अद भक्षणे-ईरन्, उपधालोपे कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य (उदकस्य)-उदकं च । उ० । २ । ३९ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१–४ ॥ चातन ऋषिः । १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३–४ सीसं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उत्-अस्थुः । व्राजम् । अत्त्रिणः । अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्रवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) वे जो (अत्रिणः) उदर पोषक [खाऊ लोग] (अमावास्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने हारी रात्रि को (व्राजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं। (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने हारा (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने–क्वुन् । युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—(अमा-वास्याम्) अमा+वस निवासे–घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमावस्यायां रात्रौ, महान्धकारे (रात्रिम्) राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः–त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भावार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।

सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आह । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति । सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ-(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आह) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, बिजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) समीप रह कर (अवति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझ को (प्र-अयच्छत्) दिया है, (अङ्ग) हे भाई (तत्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़ानाशक है ॥२॥

संयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले (उत-अस्थुः) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः (व्राजम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति व्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् । अथवा । क्रिया विशेषणम् । व्रजः=समूहः-अण् । अतिसमूहेन (अत्रिणः) १ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः (अग्निः) १ । ६ । २ । अग्निवत् तेजस्वी राजा (तुरीयः) तुरो वेगः । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति तुर—छः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् (यातुहा) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति यत ताड़ने—उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः—क्विप् । राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः (अधि) अधिकृत्य, स्वामित्वेन (ब्रवत्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—(सीसाय) षिञ् बन्धने-क्विप्+षो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक् लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं। वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान का साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

टिप्पणी—(सीस) शब्द का धात्वर्थ [षिञ् बांधना—क्विप्+षो नाश करना-कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है। लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं। सायण भाष्य में (सीस) का अर्थ "नदी के फेन आदि रूप द्रव्य" और ग्रिफ़्फ़िथ साहिब ने (lead) सीसा धातु विशेष किया है ॥

इ॒दं विष्क॑न्धं सहत इ॒दं बा॑धते अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒नेन॒ विश्वा॑ ससहे॒ या जा॒तानि॑ पिशा॒च्याः ॥ ३ ॥

इ॒दम् । वि-स्क॑न्धम् । स॒ह॒ते॒ । इ॒दम् । बा॒ध॒ते॒ । अ॒त्त्रिणः॑ ।
अ॒नेन॑ । विश्वा॑ । स॒स॒हे॒ । या । जा॒तानि॑ । पि॒शा॒च्याः ॥३॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है। और (इदम्) यह (अत्त्रिणः) उदर पोषक खाउओं को (बाधते) हटाता है। (अनेन) इस से (विश्वा=विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय। ब्रह्मज्ञानप्राप्तये (अधि) अधिकारेण (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट्। ब्रवीति (वरुणः) १। ३। ३। वरणीयं समुद्रादि-जलम् (अग्निः) १। ६। २। व्यापकः। सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः (उप) उपेत्य (अवति) रक्षति। व्याप्नोति (इन्द्रः) १। २। ३। महाप्रतापी परमेश्वरः (प्र-अयच्छत्) पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्०। पा० ७। ३। ७८। इति दाण् दाने—यच्छादेशः—लङ्। प्रादात् (तत्) निर्दिष्टं सीसम् (अङ्ग) सम्बोधने। हे सखे (यातु-चातनम्) कृवापाजिमि०। उ० १। १। यत ताडने-उण्। चातयतिर्नाशने-निरु० ६। ३०। पीड़ानाशकम्। राक्षसनाशकम् ॥

३—(इदम्) सीसम् (विष्कन्धम्) वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः-अच्। दस्य धः। वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्। पा० ८। ३। ७३। इति षत्वम् यद्वा,

जीतता हूं (या=यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने हारी [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्लेशों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है—योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॒ पूरु॑षम् ।

तं त्वा॒ सीसे॑न विध्यामो॒ यथा॒ नोऽसो॒ अवी॑रहा ॥ ४ ॥

यदि॑ । नः॒ । गाम् । हंसि॑ । यदि॑ । अश्व॑म् । यदि॑ । पुरु॑षम् ।

तम् । त्वा॒ । सीसे॑न । विध्या॒मः॒ । यथा॑ । नः॒ । असः॑ । अवी॑र-हा ॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्)

विष्क हिंसायाम्–क+धाञ्–ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विघ्नम् (सहते) षह अभिभवे । अभिभवति जयति (बाधते) बाध प्रतिबन्धे प्रतिरोधे–लट् । प्रतिबध्नाति, निवारयति (अत्त्रिणः) म० १ । अदनस्वभावान् राक्षसान् (अनेन) सीसेन (ससहे) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति षह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि (जातानि) जनी प्रादुर्भावे–कर्त्तरि क्त । उत्पन्नानि । अपत्यरूपाणि दुष्टाचरणानि (पिशाच्याः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे–अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगपुधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे–क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश+आङ+चम भक्षणे–ड प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पिशाचः । प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी । ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४—(यदि) संभावनायाम् । चेत् (गाम्) १ । २ । ३ । गोजातिम् (हंसि)

घोड़े को और (यदि) जो (पुरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारता है । (तम् त्वा) उस तुझ को (सीसेन) बन्धन काटने हारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

हन हिंसागत्योः-लट् । मारयसि । नाशयसि (अश्वम्) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशूङ् व्याप्तौ-क्वन् । यद्वा, अश भोजने—क्वन् । अश्वः कस्माद्-श्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । जातावेकवचनम् । घोटम् । तुरङ्गम् (पुरुषम्) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगतौ—कुषन् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति निपातनाद् दीर्घः । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । नरं, जनम् (तम्) तथाविधम् (त्वा) त्वां हिंसकम् (सीसेन) म० २ । विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन (विध्यामः) व्यध ताड़ने वेधे—दिवादित्वात् श्यन् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । छिन्द्मः । ताड़यामः, मारयामः (यथा) येन प्रकारेण । (असः) अस सत्तायाम्—लेटि अडागमः । त्वम् भूयाः (अवीर-हा) वीरयतीति वीरः, वीर शौर्ये-अच् । वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर+हन्-क्विप् । न वीरहा अवीरहा । अशूरहन्ता ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

—०:०:०—

सूक्तम् १७ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । हिरा देवता । १–३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासना नाशः–नाडीछेदन [फ़स्द खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश ॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः ।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

अमूः । याः । यन्ति । योषितः । हिराः । लोहित-वाससः ।
अभ्रातरः-इव । जामयः । तिष्ठन्तु । हत-वर्चसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने हारी [अथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोहू में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जायें ॥१॥

१—(अमूः) १ । ४ । २ । ताः परिदृश्यमानाः (यन्ति) गच्छन्ति (योषितः) हसृरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ९७ । युष सेवने—इति, अयं सौत्रो धातुः । योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित् । सेवयित्र्यः । सेव्याः, । स्त्रियः ।, (हिराः) स्फायितञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप् । हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाड़ी । सिराः, नाड्यः (लोहित-वाससः) वसेर्णित् । उ० ४ । २१८ । इति लोहित + वस आच्छादने, असुन् । णित्त्वाद् उपधावृद्धिः । रुधिरस्य आच्छा-

भावार्थ—इस सूक्त में सिरा छेदन, अर्थात् नाड़ी [फ़स्द] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने हारी और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठा॑वरे॒ तिष्ठ॑ पर उ॒त त्वं तिष्ठ॑ मध्यमे ।
क॒नि॒ष्ठि॒का च॑ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॒र्मही ॥ २ ॥

तिष्ठ॑ । अव॑रे । तिष्ठ॑ । प॑रे । उ॒त । त्वम् । तिष्ठ॑ । म॒ध्य॒मे॒ । क॒नि॒ष्ठि॒का । च॒ । तिष्ठ॑ति । तिष्ठा॑त् । इत् । ध॒मनिः । म॒ही ॥२॥

भाषार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

दनभूताः । रक्तवर्णवस्त्राः (अभ्रातरः) नप्तृत्वष्टृ० । उ० २ । ९६ । इति भ्राजृ दीप्तौ–तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः। (जामयः) १ । ४ । १ । भगिन्यः (तिष्ठन्तु) स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु (हत-वर्चसः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । हततेजस्काः, नष्टवीर्याः । रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—(तिष्ठ) निवृत्तगतिर्भव (अवरे) १ । ८ । ३ । अवर–टाप् । हे निकृष्टे । अधोभागस्थिते हिरे (परे) १ । ८ । ३ । हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि ! त्वम् । हिरे, सिरे (मध्यमे) मध्यान्मः । पा० ४ । ३ । ८ । मध्य–मप्रत्ययो भवार्थे । हे शरीरमध्यवर्तिनि (कनिष्ठिका) युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम् । पा० ५ । ३ । ६४ । इति अल्प–इष्ठनि कन् आदेशः । स्वार्थे क प्रत्ययः । प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । इति इत्वं टापि परतः ।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२-मनुष्य अपने चित्त की वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥ २ ॥

शतस्य॑ धमनी॑नां सहस्र॑स्य हिराणा॑म् ।
अस्थुरिन्म॑ध्यमा इमाः साकमन्ता॑ अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य॑ । धमनी॑नाम् । सहस्र॑स्य । हिराणा॑म् । अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] (साकम्) एक साथ (अरंसत) क्रीड़ा करने लगीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगें ॥ ३ ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी (तिष्ठात्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् (धमनिः) अर्त्तिसृधृधमि० । उ० २ । १०२ । इति धम ध्माने, ध्वाने च--अनि । सिरा, नाड़ी (मही) मह पूजायाम्-अच् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । महती, बृहती स्थूला ॥

३—(शतस्य)—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् (धमनीनाम्) म० २ । हृदयगतानां प्रधाननाड़ीनाम् (सहस्रस्य) अपरिमितानाम् (हिराणाम्) म० १ । सिराणाम् । सूक्ष्मशाखानाड़ीनाम् (अस्थुः) १ । १६ । १ । स्थिता अभूवन्

२—मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावें ॥ २ ॥

परि॑ वः॒ सिक॑तावती ध॒नूर्बृ॑ह॒त्य॑क्रमीत् ।
तिष्ठ॑ते॒ल॒य॑ता॒ सु क॒म् ॥ ४ ॥

परि॑ । वः॒ । सिक॑ता-वती । ध॒नूः । बृ॒ह॒ती । अ॒क्र॒मी॒त् ।
तिष्ठ॑त । इ॒ल॒य॑त । सु । क॒म् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] बालू आदि से भरी हुई (बृहती) बड़ी (धनूः) पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है। (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इलयत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं। इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण बालू से वा बालू के समान राल आदि ओषध से युक्त होवे, चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो।

(मध्यमाः) म० २। मध्यभवाः (साकम्) युगपत् (अन्ताः) अम गतौ—तन्। अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः (अरंसत) रमु क्रीडायाम्—लुङ्। यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवत्यः ॥

४—(वः) युष्मान्, नाड़ीः (सिकतावती) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति सिक सेचने—अतच् टाप्। सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता। बालुयुक्ता (धनूः) कृषिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम्। उ० १। ८०। इति धन धान्योत्पादने, रवे च—ऊ। धनुः=चतुर्हस्तपरिमाणम्। तत्परिमाणवस्त्रपट्टी (बृहती) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च। उ० २। ८४। इति बृह वृद्धौ—अति। ङीप्। महती (अक्रमीत्) क्रमु पादविक्षेपे—लुङ्। क्रा-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को रोक कर यत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१–४ ॥ द्रविणोदा ऋषिः ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २, ३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं १ निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥ १ ॥

निः । लक्ष्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ । या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥ १ ॥

भावार्थ—(ललाम्यम्=०—मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०—क्ष्मीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें। (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उन को (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजाके लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०—मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्याप्तवती (तिष्ठत) निवृत्तगतयो भवत (इलयत) इल गतौ। गच्छत, चेष्टध्वम् (कम्) सुखेन ॥

१—(निः+लक्ष्म्यम्) नॄ नये-क्विप्। ऋत इद्धातोः। पा० ७। १। १००। इति धातोरृकारस्य इत्। इति निर्। लक्षेर्मुट् च। उ० ३। १६०। इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः। लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति अमि पूर्वरूपाभावे। इको यणचि। पा० ६। १। ७७। इति यण् आदेशः। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य। पा० ८।२।४। इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितत्वम्। निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दुर्भाग्यताम् (ललाम्यम्) लल ईप्से-अच्। ततः। अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। इति बाहुलकात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः। ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने और प्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्षणों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पदोः । निः । हस्तयोः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) [सब का चलाने हारा] सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी], (वरुणः) सब के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव], (मित्रः) चेष्टा

तीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरितत्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् । निर् । नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः । बहिर्भावे । निश्चये (अरातिम्) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् (नि+सुवामसि) षू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः (अथ) अनन्तरम् । (भद्रा) ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च । भद्राणि, मङ्गलानि (तानि) उदीरितानि भद्राणि (नः) अस्माकम्, स्वकीयायै (प्र-जायै) उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ९९ । इति जनी प्रादुर्भावे-डप्रत्ययः । जनाय (अरातिम्) शत्रुम् । शत्रुसकाशात् (नयामसि) णीञ् प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—(निर्) म० १ । निश्चयेन । नितराम् । बहिर्भावे (अरणिम्) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । आर्त्तिम्, पीडाम् (सविता)

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्यायकारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पद्भ्योः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः साविषत्) निकाल देवे । (रराणा) दानशीला (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (निः = निः साविषत्) [पीड़ा को] निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि] को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है॥२॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हित-बुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अरणीम्] है और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविषक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविषत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविषक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व० ६ । १ । ३ में, ७ । ७७ । ७ में और ६ । १५ । ४ में (सविता साविषत्) पाठ है वही (सविता साविषत्) यहां भी शुद्ध है ॥

षूञ् प्रसवे प्रेरणे-तृच् । सविता सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः । निरु० १० । ३१ । सर्वप्रेरकः सूर्यः (निः + साविषत्) षूञ् प्रेरणे—लेट् । निःसुवतु, निःसारयतु (पद्भ्योः) पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः । पादयोः सकाशात् (हस्तयोः) हसिमृग्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति हसं विनाशे—तन् । करयोः सकाशात् (वरुणः) १ । ३ । ३ । वरणीयं जलम् (मित्रः) १ । ३ । ३ । सर्वप्रेरको वायुः (अर्यमा) १ । ११ । १ । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । न्यायकारी राजा (अनुमतिः) अनु + मन ज्ञाने—क्तिन् । सम्मतिः । अनुकूला, सहायिका बुद्धिः (रराणा) रा दाने—कानच् । दानशीला । (देवाः) पूज्याः, दातारः (प्र + असाविषुः) षूञ् प्रेरणे-लुङ् । प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः (सौभगाय) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२६ । इति सुभग-भावे अञ् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः । सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत्त॑ आ॒त्मनि॑ त॒न्वां॑ घो॒रमस्ति॒ यद्वा॒ केशे॑षु प्रति॒चक्ष॑णे वा । सर्वं॒ तद् वा॒चाप॑ हन्मो व॒यं दे॒वस्त्वा॑ सवि॒ता सू॑दयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते॒ । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वा॑म् । घो॒रम् । अस्ति॑ । यत् । वा॒ । केशे॑षु । प्र॒ति॒-चक्ष॑णे । वा॒ । सर्व॑म् । तत् । वा॒चा । अप॑ । ह॒न्मः॒ । व॒यम् । दे॒वः । त्वा॒ । स॒वि॒ता । सू॒द॒य॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] ! (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में और (तन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केशेषु) केशों में (वा) अथवा (प्रतिचक्षणे) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है। (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सब को (वाचा) वाणी से [विद्याबल से] (अप) हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं। (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझ को (सूदयतु) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—(आत्मनि) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्वभावे, मनसि, जीवे (तन्वाम्) १ । १ । १ । शरीरे, देहे (घोरम्) हन्तेरच् घुर् च । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच् घुरादेशः । हन्ति । विनाशयतीति । भयंकरं दुर्लक्षणम् (केशेषु) के मस्तके शेते । शीङ् शयने—अच् । अलुक्-समासः । अथवा । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे—अन्, ल लोपः । बालेषु, शिरोरुहेषु (प्रति-चक्षणे) चष्टे, पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने, दर्शने च—करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि (वाचा) १ । १ । १ । वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा (अप) वर्जयित्वा (हन्मः) नाशयामः (वयम्) उपासकाः (त्वा) त्वाम् आत्मानम् (सविता) सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा (सूदयतु) षूद आश्रुतिहत्योः—लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः । आशृणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं १ ता अस्मन्नाशयामसि ॥ ४ ॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-सेधाम् । वि-धमाम् । उत ।
विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥४॥

भाषार्थ—(रिश्यपदीम्) हरिण के समान [विना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषदतीम्) बैल के समान दांत चबाना, (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधमाम्) बिगड़ी भाथी [धोंकनी] के समान श्वास क्रिया, (ललाम्यम् = ०-मीम्) रुचि नाश करने हारी (विलीढ्यम् = ०-ढिम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि = ०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सत्सङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रिश्यपदीम्) के स्थान में (ऋष्यपदीम्) पाठ है। और जो (विलीढ्यम, ललाम्यम्) पदों का नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—(रिश्य-पदीम्) रिश हिंसे–क्यप् । रिश्यते हिंस्यते—इति रिश्यः, मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ।पा० ५ । ४ । १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् (वृष-दतीम्) अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा० ५ । ४ । १४५ । इति दन्त शब्दस्य दतृ आदेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् (गो-सेधाम्) षिधु गत्याम्–पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् (वि-धमाम्) वि विकृतौ + ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे–अच् । टाप् । विधमावद्व विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् (विलीढ्यम्) वि विकृतौ + लिह आस्वादने + क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा० ६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितः ।

अशुद्ध है क्योंकि मन्त्र में (ताः) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिङ्ग हैं ॥

सूक्तम् १६ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पंक्तिः ।

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो विदन् विव्याधनो मो अभिव्याधिनो विदन् ।
आराच्छरव्या अस्मद् विषूचीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः । विदन् । वि-व्याधिनः । मो इति । अभि-व्याधिनः । विदन् । आरात् । शरव्याः । अस्मत् । विषूचीः । इन्द्र । पातय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त बेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुंचे, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुंचें । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) बाण समूहों को (अस्मत्) हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलीढिम्, विकृतास्वादनचेष्टाम् (ललाम्यम्) म० १ । ललामीम्, रुचिनाशिनीम् (ताः) पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः (नाशयामसि) णश अदर्शने—णिच् । मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—(नः) अस्मान् (मा+विदन्) विद्लृ लाभे, माङि लुङि । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम् (विव्याधिनः) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि+व्यध ताडने-णिनिः । विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः (मो) मा+उ । मैव (अभि-व्याधिनः) पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः (मो विदन्) मैव प्राप्नुवन्तु स्पृशन्तु (आरात्) दूरदेशे (शरव्याः) शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति शरु-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भावार्थ—सर्वरक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार अपने किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वंञ्चो अस्मच्छरंवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः ।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विंध्यत ॥ २ ॥

विष्वंञ्चः । अस्मत् । शरंवः । पतन्तु । ये । अस्ताः । ये । च । आस्याः । दैवीः । मनुष्य-इषवः । मर्म । अमित्रान् । वि । विध्यत ॥ २ ॥

भाषार्थ-(ये) जो बाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये) जो (आस्याः) छोड़े जायंगे, (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) बाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें। (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य बाणो ! [बाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (वि विध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६ । १ । ७६ । इति अय् आदेशः । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । ८५ । इति स्वरितः । शरुसमूहान् शरसंहतीः (अस्मत्) अन्यारादितरर्ते० । पा० २ । । २६ । इति आरात् योगे पञ्चमी । अस्मत्तः (विषूचीः) ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिग्-उष्णिगञ्चु० । पा० ३ । २ । ५६ । इति विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इति अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः । सर्वत्रव्यापिनीः (इन्द्र) हे परमेश्वर (पातय) पत-णिच् । प्रक्षिप ॥

२—(विष्वञ्चः) म० १ । विषु+अञ्चु-क्विन् । विविधगमनाः (शरवः) म० १ । शृस्वृस्निहि । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम् -उ । बाणाः । अस्त्रशस्त्राणि (पतन्तु) निपतन्तु अधोगच्छन्तु (अस्ताः) असु क्षेपणे—क्त । क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः (आस्याः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे-ण्यत् । क्षेपणीयाः (दैवीः) देवाद् यञञौ । वार्त्तिकम् , पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैवाः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वारुणेय [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शत्रुओं को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है ॥

योनः स्वो यो अरंणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासंति । रुद्रः शंरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विंध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरंणः । स-जातः । उत । निष्ट्यः । यः । अस्मान् । अभि-दासंति । रुद्रः । शरव्यया । एतान् । ममं । अमित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ-(यः) जो (नः) हमारी (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा

---

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ्० पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेयवारुणाद्यो वाणाः (मनुष्य-इषवः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, षुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः मनुजः, मानवः । इष गतौ-उ । इषुः, वाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, वाणाः, अस्त्रशस्त्राणि (मम) मदीयान् (अमित्रान्) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् (वि) विविधम् (विध्यत) व्यध ताडने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-(स्वः) स्वन शब्दे-ड । ज्ञातिः (अरणः) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वार्त्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे—कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो (निष्ट्यः) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे वैरियों को (वि विध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० ६ । ७५ । १९ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । स-पत्नः । यः । असपत्नः । यः । च । द्विषन् । शपाति । नः । देवाः । तम् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम । अन्तरम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः (सजातः) १ । ९ । ३ । समानजन्मा, स्वकुटुम्बी (निष्ट्यः) अव्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । अत्र । निसो गते । इति वार्तिकेन । निस्–त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चाण्डालः, म्लेच्छः (अस्मान्) आज्ञाकारिणो धार्मिकान् (अभिदासति) दसु उत्क्षेपे, लेट् । उत्क्षिपेत् (अस्माँ अभिदासति) दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ९ । इति संहितायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति आकारस्य अनुनासिकः (रुद्रः) रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रुदिर् अश्रुविमोचने ण्यन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रूनिति । महाशूरः सेनापतिः । (शरव्यया) म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४ । २ । ४९ । इति शरु–यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । इति अव् आदेशः । टाप् च् । इति शरव्या तया शरसंहत्या (अमित्रान्) म० २ । हिंसकान् शत्रून् (विविध्यतु) म० २ । विशेषेण छिनत्तु भिनत्तु ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपत्ती और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपत्ती नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [कोसे] । (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—छान बीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपत्तियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें । वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्मबल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १६ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ अथर्वा ऋषिः । सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदा॑रसृद् भवतु देव सोमा॒स्मिन् य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता नः । मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद् वृ॒जिना द्वेष्या॒ या ॥ १ ॥

अदा॑र-सृत् । भ॒व॒तु॒ । दे॒व॒ । सो॒म॒ । अ॒स्मिन् । य॒ज्ञे । म॒रु॒तः॒ । मृ॒डत॑ । नः॒ । मा । नः॒ । वि॒द॒त् । अ॒भि॒-भाः । मो इति॑ । अश॑स्तिः । मा । नः॒ । वि॒द॒त् । वृ॒जि॒ना । द्वेष्या॑ । या ॥ १ ॥

४—(सपत्नः) १ । ६ । २ । प्रतियोगी, शत्रुः (असपत्नः) अशत्रुः, अप्रकटशत्रुः (द्विषन्) द्विष अप्रीतौ—शतृ । द्वेषं कुर्वन् (शपाति) शप आक्रोशे-लेट् । शपेत् (देवाः) दीप्यमानाः । विजयिनः । शूराः (धूर्वन्तु) धुर्वी हिंसायाम् । हिंसन्तु नाशयन्तु (ब्रह्म) १ । १० । ४ । परमेश्वरः (वर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृञ्-मनिन् वृणोति आच्छादयति शरीरमिति । तनुत्रम्, सर्वथा रक्षकम् (अन्तरम्) यदन्तं समीपे रमते । अन्त+रम-ड । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ-(देव) हे प्रकाश मय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुंचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुंचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो। (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े, और (मो=मा उ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजिना) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रक्खें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्त्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के विजुली आदि के विमान हैं, इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये-ऋग्वेद १। ८८। १। में वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ! (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले, (स्वर्कैः)

१—(अदारसृत्) दारजारौ कर्तरि णिलुक् च। वार्तिकम्। पा० ३। ३। २०। इति दॄ विदारणे-णिच्-घञ्। णिलुक् च। सृ गतौ-णिचि क्विप्। दारं दरं भयं सारयतीति दारसृत्। न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः, अहानिकरः। अथवा दारयन्ति दुःखानि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः। स्त्र्यादिगृहस्थाः। दार+सृ क्विप्। अगृहगामी (देव) हे दीप्यमान! (सोम) १। ६। २। हे सर्वोत्पादक परमेश्वर! (यज्ञे) १। ६। ४। पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे (मरुतः) मृग्रोरुतिः। उ० १। ६४। इति मृङ् प्राणत्यागे-उति। मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः, देवाः। वायुः। ऋत्विजः-निघ० ३। १८। मरुत् हिरण्यनाम-निघ० १। २। हे शूरवीरा देवाः (मृडत) मृड सुखने—लोट् मृडयत, सुखयत (नः) अस्मान् [त्रिवारं वर्तते]। (मा विदत्) १। १६। १। विद्लृ

अच्छी ज्वाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये], (ऋष्टिमद्भिः) दो-धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आ यात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः न) पक्षियों के समान् (आ पप्तत) उड़ कर चले आओ ॥

यो अद्य सेन्यो वधोऽघायूनामुदीरते ।

युवं तं मित्रावरुणावस्मद् यावयतं परि ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । अघ-यूनाम् । उत्-ईरते ।

युवम् । तम् । मित्रावरुणौ । अस्मत् । यवयतम् । परि ॥२॥

भावार्थ—(अद्य) आज (अघायूनाम्) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की (सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते) उठ रहा है। (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] प्राण और अपान (युवम्) तुम दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा (यावयतम्) अलग रक्खो ॥ २ ॥

लाभे लुङ् । मा लभताम् , मा प्राप्नोतु (अभि-भाः) अभि, धर्षणे, आभिमुख्ये वा + भा दीप्तौ–क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते अभिभाः=अभिभूतिः–निरु० ८ । ४ । परोपद्रवः । आपत्तिः (मो) मा–उ । मैव (अशस्तिः) शंसु स्तुतौ–क्तिन् । अपकीर्त्तिः (वृजिना) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । इति वृजी वर्जने–इनच् स च कित् , टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वृजन-अस्त्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-बुद्धिः (द्वेष्या) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि ण्यत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—(अद्य) १ । १ । १ । वर्तमाने दिने (सेन्यः) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति सेना–यत् । सेनायां भवः (वधः) हनश्च वधः पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः—अप् , वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः (अघा-

भावार्थ-(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [य० २।३] प्राण और अपान किया है। जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है। जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तौ शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

२—श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥

इ॒तश्च॒ यद॒मुत॑श्च॒ यद्व॒धं व॑रुण यावय ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

इ॒तः । च॒ । यत् । अ॒मुतः॑ । च॒ । यत् । व॒धम् । व॒रुण॒ । य॒व॒य॒ ।
वि । म॒हत् । शर्म॑ । य॒च्छ॒ । वरी॑यः । य॒व॒य॒ । व॒धम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे सब में श्रेष्ठ, परमेश्वर ! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु

यूनाम्) अघ पापकरणे-अच् । अघम्, पापम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इत्यत्र । छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वार्त्तिकम् । इति अघ-क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उ प्रत्ययः । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इति आत्वम् । पापेच्छूनाम् । दुराचारिणाम् (उत्-ईरते) ईर गतौ उद्गच्छति, उत्तिष्ठति (युवम्) युवाम् (मित्रावरुणौ) १ । ३ । २, ३ । मित्रश्च वरुणश्च । देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्य आनङ् आदेशः । प्राणापानौ (यावयतम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—एयन्तात् लोट् । वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम् ॥

३—(इतः) पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति इदम्—तसिल् । अस्मात् स्थानात् (अमुतः) अदस्—तसिल् पूर्ववत् । तस्माद् देशात् (यत् यत्) इति अव्ययद्वयम् । प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थे (वधम्)

प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्म) शरण को (वि) अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फैंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है । वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहां (महत्) के स्थान में [मन्योः] शब्द है ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । महान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥४॥

भाषार्थ—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्रसहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तृतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है । (यस्य) जिस का (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० २ । शस्त्रप्रहारम् (वरुण) १ । ३ । ३ । हे वरणीय, परमेश्वर ! (यावय) म० २ । वियोजय (महत्) १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् (शर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शॄ हिंसायाम्–मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् (वि) विशेषेण (यच्छ) पाघ्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने–यच्छादेशः । देहि (वरीयः) १ । २ । २ । उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—(शासः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति शासु अनुशिष्टौ–पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः (इत्था) सत्यनाम–निघ० ३ । १० । सत्यम् । (महान्) १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः (महाँ असि) इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१–४ ॥ अथर्वा ऋषिः । इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ।
वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-करः ॥१॥

भावार्थ—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं

दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ९ । इति नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः (अमित्र-सहः) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । षह अभिभवे—पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा, अभिभविता (अस्तृतः) स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः (न) निषेधे (यस्य) वरुणस्य (हन्यते) सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि यक् । हिंस्यते । अभिभूयते (सखा) समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ । इति समान+ख्या प्रसिद्धौ कथने च–इन् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च । अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ९३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् (जीयते) जि जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि ॥

१—(स्वस्तिदाः) स्वावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पीने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मन्त्रोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं ॥

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं ॥

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति डुदाञ् दाने—क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः (विशाम्) विश प्रवेशे—क्विप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । (पतिः) १ । १ । १ । पालकः, स्वामी (वृत्र-हा) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः (वि-मृधः) वि + मृध हिंसायाम्—क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति (वशी) शब्देन सह द्वितीया, यथा (मां कामिन्यसः) १ । ३४ । ५ (वशी) वशोऽस्त्यस्य । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता (वृषा) १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महाबली (इन्द्रः) १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः (पुरः) पुरस्तात्, अग्रे (एतु) इण्—गतौ । गच्छतु, अग्रगामी भवतु (सोम-पाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम + पा पाने—विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । (अभयम्-करः) मेघर्त्तिभयेषु कृञः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय + कृञ्—खच् । अरुर्द्वि-षदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि नं इन्द्र मृधो जहि नीचो यंच्छ पृतन्यतः ।
अधमं गंमया तमो यो अस्माँ अंभिदासंति ॥ २ ॥

वि । नः । इन्द्र । मृधः । जहि । नीचा । यच्छ । पृतन्यतः ।
अधमम् । गमय । तमः । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (वि जहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) रोक दे । (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुंचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (गमय) पहुंचा दे ॥२॥

भावार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डाल दे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज ।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासंतः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः । वि । मृधः । जहि । वि । वृत्रस्य । हनू इति । रुज ।
वि । मन्युम् । इन्द्र । वृत्र-हन् । अमित्रस्य । अभि-दासतः ॥३॥

२—(वि) विविधम् (मृधः) म० १ । मृध हिंसायाम्–क्विप् । मर्धयितॄन्, हिंसकान्, शत्रून् (जहि) १ । ८ । ३ । नाशय (नीचा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्त्वात् टिलोपः । नीचैः । (यच्छ) १ । १ । ३ । नियमय, न्यग्भूतान् कुरु (पृतन्यतः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इति अकार लोपः । तदन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् (अधमम्) अधस्+मप्रत्ययः, अन्त्यलोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् (गमय) गम्लृ णिचि—लोट् द्विकर्मकः । प्रापय तं शत्रुम् (तमः) तमिर् खेदे—असुन् । अन्धकारम् (अस्मान्, अभिदासति) व्याख्यातम्, १ । १९ । ३ ॥

भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (वि रुज) तोड़ दे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को (वि=वि रुज) भंग कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—१, राजा को पुरुषार्थी हो कर शत्रुओं का नाश करके और प्रजा में शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अप । इन्द्र । द्विषतः । मनः । अप । जिज्यासतः । वधम् ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (द्विषतः) बैरी के (मनः) मन को (अप=अपकृत्य) तोड़कर, और (जिज्यासतः) [हमारी] आयु की हानि

३—(रक्ष) रक्ष पालने-असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्–निरु० ४ । १८ । जातावेकवचनम् । राक्षसम् । शत्रुम् (वि) विशेषण, सर्वथा (मृधः) म० २ । मर्धयितॄन्, हिंसकान् (जहि) म० २ । नाशय (वृत्रस्य) म० १ । शत्रोः । (हनू) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे—उ प्रत्ययः । हन्ति कठोर-द्रव्यादिकमिति हनुः । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ (रुज) रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्ग्धि । विदारय (वि) विरुज (मन्युम्) १ । १० । १—क्रोधं, कोपम् (वृत्र-हन्) म० १ । हे अन्धकारनाशक ! (अमित्रस्य) १ । १९ । २ । पीडकस्य, शत्रोः (अभि-दासतः) दसु उत्क्षेपे-शतृ । उपक्षपयतः, उत्क्षेपणशीलस्य ॥

४—(अप) अपकृत्य, निरस्कृत्य (द्विषतः) द्विष अप्रीतौ-शतृ । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप=अपकृत्य) छिन्न भिन्न करके (महत् शर्म) [अपना] विस्तीर्ण शरण (वि यच्छ) [हमें] दानकर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

करस्य शत्रोः (मनः) १ । १ । २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् (जिज्यासतः) धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । पा० । पा० ३ । १ । ७ । इति ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ९ । इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७९ । इति अभ्यासाकारस्य इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतुमिच्छतः पुरुषस्य (वधम्) १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ । २० । ३ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

—०:०:०—

सूक्तम् २२ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्ऽद्योतः । हरिमा । च । ते ।
गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद् अयताम्) उड़ जावे । (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है । उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सद्वैद्य वायु सेवन और ओषधि सेवन करावें,

---

१—(अनु) अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणेऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्षीकृत्य (सूर्यम्) १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् (उत्+

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—(गौः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुंचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है-निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है-मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

> **पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।**
> **पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥**

प्रातःकाल की संध्या में गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

> **परि॑ त्वा॒ रोहि॑तै॒र्वर्णै॑र्दीर्घायु॒त्वाय॑ दध्मसि ।**
> **यथा॒यम॑र॒पा अस॒दथो॒ अह॑रितो॒ भुव॑त् ॥ २ ॥**

परि॑ । त्वा॒ । रोहि॑तैः । वर्णैः॑ । दी॒र्घा॒यु॒ऽत्वाय॑ । द॒ध्म॒सि॒ । यथा॑ । अ॒यम् । अ॒र॒पाः । अस॑त् । अथो॒ इति॑ । अह॑रितः । भुव॑त् ॥ २ ॥

अयताम्) अय गतौ । अनुदात्तेत्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् (हृद्-द्योतः) द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः (हरिमा) वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १५३ । इति टिलोपः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादि-रोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः (गोः) पुंलिङ्गम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ-डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—इति भगवान् यास्कः-निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य (रोहितस्य) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च-इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य (वर्णेन) वर्ण शुक्लादिवर्णकरणे दीपने च—घञ् । रागेण, रञ्जनेन । रूपेण (दध्मसि) दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुझ को (दीर्घायुत्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं। (यथा) जिस से (अयम्) यह (अरपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥ २ ॥

या रोहिंणीर्देवृत्या३॑ गावो॒ या उ॒त रोहिं॑णीः ।
रू॒पंरू॑पं॒ वयो॑वय॒स्ताभिं॑ष्ट्वा॒ परिं॑ दध्मसि ॥ ३ ॥
याः । रोहिं॑णीः । दे॒वृत्याः॑ । गावः॑ । याः । उ॒त । रोहिं॑णीः ।
रू॒पम्-रू॑पम् । वयः॑-वयः । ताभिः॑ । त्वा॒ । परिं॑ । द॒ध्म॒सि॒ ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओषधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं। (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुझ को (रूपम्-

---

२—(त्वा) त्वां रोगिणं (रोहितैः) म० १ । लोहितैः, रक्तैः (वर्णैः) म० १ । रङ्गैः । रञ्जनैः (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १ । २ । दीर्घ+इण् गतौ-उण्, भावे त्वप्रत्ययः । चिरकालजीवनाय (परि दध्मसि) म० १ । सर्वतः पोषयामः (अरपाः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । अपापः, नीरुजः, नीरोगः (असत्) अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् (अथो) अथ—उ । तदनन्तरम् एव (अहरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति न+हृञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः (भुवत्) भू सत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—(रोहिणीः) रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गौरादित्वात् ङीप् । वा छन्दसि । पा०

रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयःवयः) सब प्रकार के बल के लिये (परि दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सद्वैद्य रोगी को सुपरीक्षित औषधों और यथायोग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।
अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ—(सुकेषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं । (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

---

६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, ओषधयः (देवत्याः) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः (गावः) स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः (रोहिणीः) वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । इति रोहित-ङीप्, तकारस्य नकारः । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः (रूपं-रूपम्) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय (वयः-वयः) वय गतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येन । सर्वसामर्थ्याय (ताभिः) गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—(सुकेषु) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति सु०+कै+शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ-ड । उत्तमेषु शब्देषु । उपायकथनेषु (हरिमाणम्) म० १ ।

भावार्थ—सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य ओषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम ओषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है । और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है । परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हम ने लिया है । सायणाचार्य ने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका) का [काष्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय ज्ञात पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

न॒क्तं॒जा॒तास्यो॑षधे॒ रामे॒ कृष्णे॒ असि॑क्नि च ।
इ॒दं र॑जनि रजय कि॒लासं॑ पलि॒तं च॒ यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम्, सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा (रोपणाकासु) रोपण—आकासु । रुह प्रादुर्भावे, णिच्-ल्युट्, हस्य पः । व्रणरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ+कम कान्तौ-ड ॥"रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु"-इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ (दध्मसि) म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः । (हारिद्रवेषु) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति हृञ् हरणे-इञ् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्रु द्रवणे स्रवणे-अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु (नि) नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओषधे । रामे । कृष्णे । असिक्नि । च ।
इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारी, ओषधि तू (नक्तंजाता) रात्रि में उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्नि) निर्बन्ध [पूर्ण सार वाली] है। (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी ! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगाड़ने हारा कुष्ठ आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित औषधों से रोगों की निवृत्ति करें ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओषधि से यह आशय है कि औषधें, गेहूं, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—(नक्तम्-जाता) नज व्रीडे-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक्क नाशने-क्त । नक्कयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा (ओषधे) ओषः पाको धीयतेऽस्याम्, ओष+डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ६३ । इति कि प्रत्ययः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६ । २७ । अस्यार्थः-ओषत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति । ओषति दाहके ज्वरादौ एना धयन्ति पिबन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये, ओषत्+धेट् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष+धेट्-कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य ! (रामे) रमु क्रीडायाम् णिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति वेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे (कृष्णे) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृष आकर्षणे-नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सा कृष्णा । हे आकर्षणशीले (असिक्नि) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्नमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३९ । इति असित-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तो भी उनके भिन्न २ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२

भावार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस [पुरुष] से (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत् चिन्ह को (निर्णाशय) निरन्तर नाश कर दे। (स्वः वर्णः) [रोग

ङीप्, तकारस्य क्नः। असिता असिक्नी। हे अबद्धशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसार-युक्ते (रजनि) रञ्जेः क्युन्। उ० २। ७६। इति रन्ज रागे-क्युन्, स्त्रियां ङीष्। रञ्जयतीति रजनी। हे सुरञ्जनशीले ! (रजय) रन्ज रागे, नकारलोपः रञ्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु (किलासम्) क्लीवलिंगम्। किल प्रेरणे, क्रीड़े—क। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। किल+असु क्षेपणे—अण्। किलं वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम्। वर्णदूषकम् सिध्मम्। कुष्ट-रोगादिकं (पलितम्) फलेरितजादेश्च पः। उ० ५। ३४। इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम्। फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतति पलितम्। अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच्। शरीरश्वेततारोगः (यत्) यत् किञ्चित् ॥

२—(किलासम्) म० १। वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम् (पलितम्) म० १। शरीरश्वेततारोगम् (निर्) निरन्तरम् (इतः) अस्मात् पुरुषात्

का] अपना रंग (त्वाम्) तुझ में [ओषधि में] (आ विशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को (परा पातय) दूर गिरा दे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओषधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाता है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ॥

असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।

असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्बन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्बन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्बन्ध [सारवाली] है, (इतः) इस [पुरुष] से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्णाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

(नाशय) णश अदर्शने—णिच् । विनष्टं कुरु, घातय (पृषत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महत्० । उ० २ । ८४ । पृष सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् । (त्वा) त्वाम् । ओषधिम् (स्वः) स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आत्मीयः । (आ+विशताम्) प्रविशतां, व्याप्नोतु (वर्णः) १ । २२ । १ । रूपम् (शुक्लानि) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः । श्वेतानि श्येतानि सितानि चिन्हानि (परा+पातय) पत, णिच् । दूरं प्रेरय ॥

३-(असितम्) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने–क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि=नाशने–क्त । नञ्समासः । अबद्धम्, अखण्डितम् । कृष्णवर्णम्—इति सायणः (प्र-लयनम्) प्र+लीङ् श्लेषे, प्राप्तौ–ल्युट् । प्रापणं, प्राप्तिः, लाभः (आ-स्थानम्) आङ्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ–ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्यं किलासंस्य तनूजस्यं च यत् त्वचि ।
दूष्यां कृतस्य ब्रह्मंणा लक्ष्मं श्वेतमंनीनशम् ॥ ४ ॥
अस्थि-जस्यं । किलासंस्य । तनू-जस्यं । च । यत् । त्वचि ।
दूष्या । कृतस्यं । ब्रह्मंणा । लक्ष्मं । श्वेतम् । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(दूष्या कृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्म त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्-इत्यन्वयः) । (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ट आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्म) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [उस को] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैं ने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनुज)

स्थानम् (तव) त्वदीयम् (असिक्नी) म० १ । अबद्धा, सारवती (ओषधे) म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

४—(अस्थि-जस्य) असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्य सप्तधातुमध्ये धातुविशेषः, कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा० । ३ । २ । ६८ । इति जनी प्रादुर्भावे-ड प्रत्ययः । अस्थ्नो जातस्य मज्जाधातोः (किलासस्य) म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य (तनू-जस्य) तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू+जनी-ड । शरीरजातस्य (यत्) लक्ष्म (त्वचि) तनोरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक् प्रत्ययः, अन् भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-

शरीर से उत्पन्न हुये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वैदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सद्वैद्य रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ॥

१–४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप्, २ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥ १ ॥

सु-पर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ ।
तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥१॥

र्यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे–क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादिकम् सा । शरीरावरणे, चर्मणि (दूष्या) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि–इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तया दुष्टक्रियया ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया (कृतस्य) उत्पादितस्य (ब्रह्मणा) १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन (लक्ष्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शने–मनिन् । चिह्नम् (श्वेतम्) श्वित शुक्लतायाम्–अच् घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् (अनीनशम्) णश अदर्शने–णिचि लुङि रूपम् । अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर (प्रथमः) सब का आदि (जातः) प्रसिद्ध है। (तस्य) उस [परमेश्वर] के (पित्तम्) पित्त [बल] को, [हे औषधि !] (त्वम्) तू ने (आसिथ) पाया था। (तत्) तब (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुयी (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [प्रज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्) रूप (चक्रे) किया था ॥ १ ॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से ओषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है। वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधा जिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरान्त प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—(सु-पर्णः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सु+पॄ पालन-पूरणयोः—न। शोभनपालनः, शोभनपूरणः परमेश्वरः (जातः) प्रादुर्भूतः। प्रसिद्धः (प्रथमः) १। १२। १। आद्यः, अग्रिमः, उत्तमः (पित्तम्) अपि+देङ् पालने, दो छेदने वा—क्त। अच उपसर्गात् तः। पा० ७। ४। ४७। इति तादेशः, अपेरल्लोपः। अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान्, अथवा द्यति नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम्। वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः। तत्पर्यायः तेजः, उष्मा, अग्निः। तस्य कर्माणि। "पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम्। रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः" ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे (आसिथ) अस दीप्तिग्रहणगतिषु—लिट्। त्वं गृहीतवती प्राप्तवती (तत्) तदा (आसुरी) १। १०। १। असुरस्य इयम्। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। इति असुर—अण्। टिड्ढाणञ्द्वयस०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। माया= प्रज्ञा–निघ० ३। ९। असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (युधा) युध संप्रहारे—क्विप्। युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन (जिता) प्राप्तपराजया। वशीकृता (रूपम्) १। १। १। आकारम्। सौन्दर्य्यम् (चक्रे)

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १ । १० । १ और (आसुरी) के लिये ७ । ३६ । १ । देखो । हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है । ऐसा, १ । २३ । १ में आया है । ऋग्वेद १० । १२६ । ३, में कहा है ।

तम॑ आसी॒त् तम॑सा गू॒ढमग्रे॑ऽप्रके॒तं स॑लि॒लं सर्व॑मा इ॒दम् ।

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था । और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था ।

आसु॒री च॑क्रे प्रथ॒मेदं कि॑लासभेष॒जमि॒दं कि॑लास॒नाश॑नम् ।
अनी॑नशत् कि॒लासं॒ सरू॑पामकरत् त्वच॑म् ॥ २ ॥

आसुरी । च॒क्रे॒ । प्र॒थ॒मा । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-भे॒ष॒जम् । इ॒दम् । कि॒ला॒स॒-नाश॑नम् । अनी॑नशत् । कि॒लास॑म् । सरू॑पाम् । अ॒क॒र॒त् । त्वच॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ--(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु] को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया । [उस ने] [ईश्वर माया ने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) सुन्दर रूप वाली (अकरत्) बना दिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे--लिट् । कृतवती, दत्तवती (वनस्पतीन्) १ । ११ । ३ । वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान्, इत्यर्थः ॥ १ ॥

२--(आसुरी) म० १ । प्रकाशमय परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा (चक्रे) म० १ । कृतवती (प्रथमा) म० १ । आदिभूता (इदम्) प्रसिद्धम् । उपस्थितम् (किलास-भेषजम्) किलासम् १ । २३ । १ । किल + असु क्षेपणे-अण् । भिषजो वैद्यस्येदमिति अण् निपातनात् एत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ड । रूपनाशकस्य महारोगस्य औषधम् (किलास-नाशनम्) कृत्य-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और क्षुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नामं ते माता सरूपो नामं ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नामं । ते । माता । स-रूपः । नामं । ते । पिता । सुरूप-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण वा स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है। (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, (सा=सा त्वम्) सो तू (इदम्) इस [अंग] को (सरूपम्) सुन्दर रूप युक्त (कृधि) कर ॥३॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास+णश अदर्शने—कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्टादिकस्य निवर्तकम् (अनीनशत्) णश अदर्शने—णिच्, लुङ् । नाशयति स्म (किलासम्) १ । २३ । १ । वर्ण-नाशकं महारोगम् (स-रूपाम्) ज्योतिर्जनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् (अकरत्) डुकृञ् करणे लुङ् । कृतवती (त्वचम्) १ । २३ । ४ । त्वचाम्, शरीरावरणं चर्म ॥

३—(स-रूपा) म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समान-स्वभावा (नाम) अव्ययम् । नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् (माता) १ । २ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा (स-रूपः) समानरूपः । समानस्वभावः, समानगुणः (पिता) १ । २ । १ । पालको जनकः । परमेश्वरः, मेघः सूर्यो वा (सरूप-कृत्) डुकृञ् करणे—क्विप् । ह्रस्वस्य

भावार्थ—(ओषधि) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं। ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियम पूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्य्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता । इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने हारी तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उद्भृता) उखाड़ी गई है। (इदम् उ) इस [कर्म्म] को (सु) भली भांति से (प्र साधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

षिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । शोभनरूपकारिणी । समानगुणकारिणी (त्वम् ओषधे) १ । २३ । १ । हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् (स-रूपम्) सुन्दररूपयुक्तम् (इदम्) रोगदूषितम् अङ्गम् (कृधि) श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

४—(श्यामा) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप् । श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला । सुखप्रदा । ओषधिः (सरूपम्-करणी) सरूपं क्रियते अनयेति । करणाधिकरणयोश्च । पा० । ३ । ३ । ११७ । इति कृञ् करणे-ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छन्दसः । टिड्ढाणञ्द्वयसज्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

"धरि लात विघ्न अनेक पैं निरभय न उद्यम तें टरैं ।
जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करैं ॥"

सूक्तम् २५ ॥

१–४ ॥ भृग्वंगिरा ऋषिः । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑हत् प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म्म॒धृतो॒ नमां॑सि । तत्र॑ त आ॒हुः पर॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्निः । आ । अपः॑ । अद॑हत् । प्र॒-विश्य॑ । यत्र॑ । अकृ॑ण्वन् । ध॒र्म॒-धृतः॑ । नमां॑सि । तत्र॑ । ते॒ । आ॒हुः॒ । प॒रमम् । ज॒नित्र॑म् । सः । नः॒ सम्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥१॥

कर्त्री (पृथिव्याः) १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तीर्णाया वा भूमेः सकाशात् (अधि) पंचम्यर्थानुवादी (उत्-भृता) उत्+भृञ्-क्त । उत्खाता । उत्पादिता (ऊं इति) पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति–निरु० १ । ६ (प्र+साधय) प्र+षाध सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय (पुनः) अनन्तरम् (पुना रूपाणि) रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य लोपे कृते । ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः (रूपाणि) सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि (कल्पय) कृपू सामर्थ्ये, णिच् कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस [सामर्थ्य] से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके (अपः) व्यापन शील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकृण्वन्) किया है । (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सब से ऊंचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्धि) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—(यत्) यस्मात् सामर्थ्यात् (अग्निः) १ । ६ । २ । तेजः पदार्थ-विशेषः । औष्ण्यम् (आ) समन्तात् (अपः) १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीर-मित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । "आपः" य० १७ । २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती (अदहत्) दह दाहे=सन्तापे-लङ् । अतपत् (प्र-विश्य) अन्तर्विगाह्य (यत्र) सामर्थ्ये (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः-लङ् । अकुर्वन् (धर्मधृतः) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ० । उ० १ । १४० । इति धृञ् धारणे-मन् । धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्मः, न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्-क्विप्, तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्य्यादा-पालकाः पुरुषाः (नमांसि) णम प्रह्वत्वे-असुन्, आद्युदात्तः । नम्रभावान् (तत्र) सामर्थ्ये (आहुः) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् । ब्रुवन्ति, कथयन्ति (परमम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ४ । इति पर+मा माने-क । प्रधा-नम् (जनित्रम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादु-र्भावे-इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् (सः) स त्वम् (सम्-विद्वान्) विदेः शतु-र्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने-शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञान-वान् (परि वृङ्धि) वृजी वर्जने—रुधादित्वात् श्नम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद्यर्चिर्यदि वासि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्। ह्रूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि । अर्चिः । यदि । वा । असि । शोचिः । शकल्यऽइषि । यदि । वा । ते । जनित्रम् । ह्रूडुः । नाम । असि । हरितस्य । देव । सः । नः । सम्ऽविद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥२॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषि) अंग अंग की गति में है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दबाने की कल में दबावे।

(तक्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४ । १४५ । इति तकि कृच्छ्रजीवने=दुःखेन जीवने-मनिन्। हे कृच्छ्रजीवनकारिन् , ज्वर ॥

२—(यदि) संभावनायाम् , चेत् (अर्चिः) अर्चिशुचिहुसृ० । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजायाम्—इसि । अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु—निघ० २ । १७ । ज्वलनकरः (शोचिः) शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इसि । शोचति । ज्वलतिकर्मा, निघ० १ । १६ । तापकरः (शकल्य-इषि) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शक्लृ शक्तौ—कल प्रत्ययः । शकलः खण्डः । पुनः समूहार्थे—य प्रत्ययः, ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति इष गतौ क्विप् । शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (हूडुः) के स्थान में [रूढुः] पढ़ कर [रोहकः] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है।

यदि शोको यदि वा भिशोको यदि वा राज्ञो वरुण-
स्यासि पुत्रः । हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संवि-
द्वान् परि वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि । शोकः । यदि । वा । अभि-शोकः । यदि । वा । राज्ञः ।
वरुणस्य । असि । पुत्रः । हूडुः । नाम । असि । हरितस्य ।
देव । सः । नः सम्-विद्वान् । परि । वृङ्ग्धि । तक्मन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे, तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे (अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले (वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है। (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (हूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है (सः) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे । ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य्य की ताप वा जल से उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शकल्येट् । अंगानां गतौ (जनित्रम्) म० १ । जन्मस्थानम् (हूडुः) ईषेः मिच्च । उ० १ । ११३ । इति हूड गतौ, अत्र पीड़ने–कु । पीडा-यन्त्रम् (नाम) १ । २ । ३ । प्रसिद्धः (हरितस्य) हृञ् हरणे—इतन् । रोग-जनितस्य पीतवर्णस्य (देव) हे द्योतक, दातः । अन्यद् व्याख्यातम् , म० १ ॥

३—(शोकः) शुचि शोके–कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । मनःपीड़कः (अभि-शोकः) सर्वशरीरपीड़कः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः॑ शी॒ताय॑ त॒क्मने॒ नमो॑ रू॒राय॑ शो॒चिषे॑ कृणोमि ।
यो अ॑न्ये॒द्युरु॑भय॒द्युर॒भ्येति॑ तृती॑यकाय॒ नमो॑ अस्तु
त॒क्मने॑ ॥ ४ ॥

नमः॑ । शी॒ताय॑ । त॒क्मने॑ । नमः॑ । रू॒राय॑ । शो॒चिषे॑ । कृ॒णो॒मि॒ । यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भ॒य॒द्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । तृती॑यकाय । नमः॑ । अ॒स्तु॒ । त॒क्मने॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शीताय) शीत (तक्मने) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिषे) ताप के ज्वर को [ज्वर रूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं । (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा ज्वर और (उभयद्युः) दो अन्तरा ज्वर (अभि एति) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी (तक्मने) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

(राज्ञः) १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः (वरुणस्य) १ । ३ । ३ । सूर्यतापस्य जलस्य वा (पुत्रः) १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत् उत्पन्नः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—(शीताय) श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६ । १ । २४ । इति सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते (तक्मने) म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय (रूराय) स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति रुङ् बधे-रक्, दीर्घश्च । घातकाय, पीड़काय, क्रूराय (शोचिषे) म० २ । तापकराय (कृणोमि) कृवि हिंसाकरणयोः । करोमि (यः) तक्मा, ज्वरः (अन्येद्युः) अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने (उभयद्युः) अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम खोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आ॒रे३॒ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो असत् ।
आ॒रे अश्मा॒ यमस्य॑थ ॥ १ ॥

आ॒रे । अ॒सौ । अ॒स्मत् । अ॒स्तु॒ । हे॒तिः । दे॒वा॒सः॒ । अ॒स॒त् ।
आ॒रे । अश्मा॑ । यम् । अस्य॑थ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवासः) हे विजयी शूर वीरो ! (असौ) वह (हेतिः) सांग वा बरछी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (असत्) रहे (यम्) जिसे (अस्यथ) तुम फैंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि के अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि (अभि-एति) आगच्छति (तृतीयकाय) त्रेः सम्प्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, संप्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—(आरे) दूरे (असौ) सा शत्रुप्रयुक्ता (हेतिः) १ । १३ । ३ । खड्गद्या-युधं शक्तिनामास्त्रम् (देवासः) १ । ७ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः (असत्) १ । २२ । २ । भवेत् (अश्मा) १ । २ । २ मेघः, आयुधवृष्टिः । पाषाणः (यम्) अश्मानम् (अस्यथ) असु क्षेपणे-लट्, दिवादित्वात् श्यन् । यूयं क्षिपथ ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भर्गः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।
भर्गः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना, और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महाप्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्र-वतः । नपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।
शर्म । यच्छाथ । स-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नपात्) न गिराने हारे राजन् ! और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—(सखा) १ । २० । ४ । सुहृत्, मित्रम् (रातिः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् (भगः) १ । १४ । १ । भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः (सविता) १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी (चित्र-राधाः) चित्र+राध संसिद्धौ-असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेनेति यास्कः-निरु० ४ । ४ । विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! (यूयम्) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथः) बहुत विस्तीर्ण (शर्म) सुख वा शरण (यच्छाथ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्म-धुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिलकर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रक्खें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में (सप्रथाः) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का (सप्रथः) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदत । मृडत । मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुषूदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुखी करो, [हे राजन !] तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय)

३—(यूयम्) प्रवतो नपात् मरुतश्च (प्र-वतः) १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य । भक्तान् । द्वितीयायां बहुवचनं वा (नपात्) १ । १३ । २ । न पातयतीति । हे अपातनशील राजन ! (मरुतः) १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः (सूर्य-त्वचसः) त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः (शर्म) १ । २० । ३ । सुखम्, शरणम् (यच्छाथ) दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त (स-प्रथः) सह + प्रथ ख्यातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—(सुसूदत) षूद आश्रुतिहत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकुरुत (मृडत) मृड सुखने । सुखयत (मृडय)

सुख दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१–४ ॥ स्वस्त्ययनकामोऽथर्वा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २–४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३ वपि व्ययामस्यघायोः परिपन्थिनः

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रि-सप्ताः । निः-जरायवः । तासाम् । जरायु-भिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि । अघ-योः । परि-पन्थिनः ॥ १ ॥

भावार्थ—(अमूः) वह (त्रिषप्ताः) तीन [ऊंचे, मध्यम और नीचे] स्थान में खड़ी हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] से निकली हुई (प्रदाक्वः) सर्पिणी [वा बाघिनी] रूप शत्रु सेनायें (पारे) उस पार [वर्तमान] हैं । (तासाम्) उनकी (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान] (अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वयम्) हम (अपि व्ययामसिः) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुखय (तनूभ्यः) १ । १ । १ । शरीरेभ्यः (मयः) १ । १३ । २ । सुखम् । १ (तोकेभ्यः) १ । १३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—(अमूः) परिदृश्यमानाः, ताः (पारे) पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्, अथवा पॄ पूर्तौ—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे (पृदाकः) पर्दते-र्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च । उ० ३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ—जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों आंखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावें और वह घबराकर हार मान लेवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (निर्जरायवः) के स्थान में [निर्जरा इव] शब्द है ॥

विषूँच्येतु कृन्तती पिनाकमिव बिभ्रती ।
विष्वँक् पुनर्भुवा मनोऽसंमृद्धा अघायवः ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्दते कुत्सितं शब्दयति सा पृदाकूः सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र्य इव वा दुष्टस्वभावाः शत्रुसेनाः (त्रि-सप्ताः) १ । १ । १ । त्रि + षप समवाये—क । त्रिषु उच्चमध्यमनीचस्थानेषु सम्बद्धाः, स्थिताः (निः-जरायवः) निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ-ष्, वयोहानौ-अङ्, टाप् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीरनिर्बलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा + इण् गतौ–ञुण् । जरां जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः । निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः (तासाम्) पृदाकूरूपाणां शत्रुसेनानाम् (जरायु-भिः) पूर्ववत्, जरा+इण-ञुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपटचेष्टाभिः–इति यावत् (वयम्) योद्धारः पुरुषाः (अक्ष्यौ) १ । ८ । ३ । अशू व्याप्तौ—क्सि । यद्वा, अक्षु व्याप्तौ–इन्, ततो ङीप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत् स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे (अपि व्ययामसि) व्येञ् संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिव्ययामः, आच्छादयामः, स्वबुद्धिबलैः प्रमोहयामः (अघायोः) १ । २० । २ । अघं परहिंसनमिच्छतीति अघायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः (परि-पन्थिनः) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि पा० ५ । २ । ८९ । इति परि + पथि गतौ—णिनि । निपातितः । युद्धे प्रत्यवस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषूची । एतु । कृन्तती । पिनाकम्-इव । बिभ्रती ।
विष्वक् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥२॥

भाषार्थ—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (बिभ्रती) उठाये हुये (कृन्तती) काटती हुयी [हमारी सेना] (विषूची) सब ओर फैल कर (एतु) चले। और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर आयी हुयी [शत्रु सेना] का (मनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं, ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (पुनर्भुवाः) के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न बहवः समशकन् नार्भका दाधृषुः ।
वेणोरद्गा इवाभितोऽसंमृद्धा अघायवः ॥ ३ ॥

२—(विषूची) १ । १९ । १ । नानाविधं गच्छन्ती, नानामुखी (एतु) गच्छतु (कृन्तती) कृती छेदने-शतृ । तुदादित्वात् शः । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५९ । इति नुम्, ततो ङीप् । छिन्दती, भिन्दती शत्रुसेना (पिनाकम्) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । पा रक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् (बिभ्रती) १ । १ । १ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती (विष्वक्) १ । १९ । १ । नानामुखम्, अनवस्थितम् (पुनः-भुवाः) पुनः+भू सत्तायाम्—क्विप् । पुनः संघीभूतायाः पृदाकाः, शत्रुसेनायाः-इत्यर्थः (मनः) चित्तम् (असम्-ऋद्धाः) ऋधु वृद्धौ-क्त । असम्पन्नाः, निर्धनाः (अघायवः) म० १ । अनिष्ट-चिन्तकाः शत्रवः ॥

न । बुहर्वः । सम् । अशुकुन् । न । अर्भकाः । अभि । दाधृषुः ।
वेणोः । अद्गाः-इव । अभितः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यर्वः ॥३॥

भाषार्थ—(न) न तो (बहवः) बहुत से शत्रु (समशकन्) समर्थ हुये (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुओं के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [होवें] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नीरस सूखे बांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें। इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (दाधृषुः) के स्थान में [दाद्दृशुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुंषिता पुरः ॥ ४ ॥

३—(बहवः) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इतिबहि वृद्धौ-कु, नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वरथपदातियुक्ताः शत्रवः (सम्) सम्यक्, अल्पमपीत्यर्थः (अशकन्) शक्लृ शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् (अर्भकाः) अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । इति यास्कः-निरु० । ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः (अभि) आभिमुख्येन (दाधृषु) धृषु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट्, दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः (वेणोः) अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षेपणयोः-णु । वीभावो गुणश्च । वंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः (अद्गाः) गन् गम्यद्योः । उ० १ । १२३ । इति अद भक्षणे-गन् । अद्यते भक्ष्यते स अद्गः । पुरोडाशाः (अभितः) सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र। इतम्। पादौ। प्र। स्फुरतम्। वहतम्। पृणतः। गृहान्।
इन्द्राणी। एतु। प्रथमा। अजीता। अमुषिता। पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्रेतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (वहतम्) पहुंचाओ। (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) बिना जीती और (अमुषिता) बिना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥

(इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १। २२। १२।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—(प्र+इतम्) इण् गतौ—लोट्। युवां प्रकर्षेण गच्छतम् (पादौ) हे मम पादौ (स्फुरतम्) स्फुर स्फुर्तौ, चलने च—लोट् शीघ्रं चलतम् (वहतम्) वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः। अस्मान् प्रापयतम् (पृणतः) पृण तर्पणे, तुदादिः—शतृ। तर्पयितॄन् सुखयितॄन् पुरुषान् (गृहान्) पुंलिङ्गम्। गेहे कः। पा० ३। १। १४४। इति ग्रह आदाने-क। दारान् दारादीन् गृहस्थान् प्रति (इन्द्राणी) इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी-निरु० ११। ३७। इन्द्रस्य विभूतिः—इति दुर्गाचार्यस्तद्वृत्तौ। इन्द्रवरुणभवशर्व०। पा० ४। १। ४६। इति इन्द्र—ङीष् आनुक् च। इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः। महासमृद्धिः महालक्ष्मीः (एतु) इण्—गतौ। गच्छतु (प्रथमा) १। १२। १ अपूर्वा। प्रख्याता, उत्कृष्टा (अजीता) जि—क्त। सांहितिको दीर्घः। अनिर्जिता, अपराभूता (अमुषिता) मुष बधे, लुण्ठने—क्त। अनपहृता (पुरः) पुरस्तात्। अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-४ । चातन ऋषिः । अग्निर्देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
द॒हन्नप॑ द्वया॒विनो॑ यातु॒धाना॑न् किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

उप॑ । प्र । अ॒गा॒त् । दे॒वः । अ॒ग्निः । र॒क्षः॒-हा । अ॒मी॒व-चात॑नः ।
दह॑न् । अप॑ । द्व॒या॒विनः॑ । या॒तु॒-धाना॑न् । कि॒मी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसों का मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब सेनापति अग्नि रूप होकर शतघ्नि [तोप] भुशुण्डी [बन्दूक], धनुष बाण तरवार आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—(अगात्) इण् गतौ-लुङ् । अगमत् (देवः) १ । ७ । १ । विजयी (अग्निः) अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः (रक्षः—हा) रक्ष पालने-अपादाने असुन् रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ १८ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति रक्षः+हन-क्विप् । हिंसकानां हन्ता (अमीव-चातनः) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखनां नाशयिता । (अप+दहन्) दह-शतृ । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् (द्वयाविनः) द्वयं वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि । पा० ५ । २ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मायाविनः (यातु-धानान्) १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् (किमीदिनः,) १ । ७ । १ । पिशुनान, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रतिं दह यातुधानान् प्रतिं देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रतिं । दह । यातु-धानान् । प्रतिं । देव । किमीदिनः ।
प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ-(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी राक्षसों और (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रति दह) जला दे। (कृष्णवर्तने) हे धूंआ धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः =०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

२—(प्रति) प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् (दह) । भस्मीकुरु, (यातु-धानान्) म० १ । पीड़ादातॄन्, राक्षसान् (देव) म०१ । हे विजयशील ! (किमीदिनः) म० १ । पिशुनान् (प्रतीचीः) ऋत्विग्दधृक० । पा० ३ । ३ । ५९ । इति । प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन् । नलोपः , ङीप् । यथा विषूच्योः शब्दः, १ । १९ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः (कृष्ण-वर्तने) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । इति वृतु वर्तने-अनि । कृष्णा कृष्णवर्णा शतघ्नीभुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते (सम्) सम्यक्, सर्वथा (यातु-धान्यः) पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु-धान-ङीष् , शसः स्थाने छन्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीड़ा-दायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शुशापं । शपनेन । या । अघम् । मूरम् । आ-दुधे ।
या । रसस्य । हरणाय । जातम् । आ-रेभे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है। और (या) जिस ने (रसस्य) रस [बलादि] के (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश करदें ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आददे] पाठ है ॥

३—(या) यातुधानी शत्रुसेना (शशाप) शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती (शपनेन) शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन (अघम्) अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं, दुःखम् । दुःखकरम् (मूरम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः—क्विप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्छाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् (अघं मूरम्) दुःखकरं मूलं शरणम् (आ-दधे) आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परिजग्राह (रसस्य) रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य (हरणाय) अपहरणाय, नाशनाय (जातम्) जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् (आ-रेभे) आङ् पूर्वात् लभ आलम्भे=स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती (तोकम्) १ । १३ । २ । वृद्धिकरं । सन्तानम् (अत्तु) भक्षयतु नाशयतु (सा) शत्रुसेना ।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो वि घ्नतां यातुधान्यो वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नप्त्यम् ।
अध । मिथः । वि-केश्यः । वि । घ्नताम् । यातु-धान्यः ।
वि । तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यातुधानीः=०—नी) दुःख दायिनी [शत्रुसेना] (पुत्रम्) [अपने] पुत्र को, (स्वसारम्) भली भांति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत) और (नप्त्यम्=नप्त्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे। (अध) और (विकेश्यः) केश बिखेरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः) आपस में (वि घ्नताम्) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातुधान्यः) दुःख पहुंचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हट दुराग्रह करके, कर आदि न देवें उन को दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—(पुत्रम्) १। ११। ५। स्वसुतम् (यातु-धानीः) म० २। प्रथमैकवचनं छन्दसि यथा श्रीः। यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना (स्वसारम्) सावसेर्ऋन्। उ० २। ९६। इति सु+असु क्षेपणे-ऋन्। सुष्ठु अस्यति समाप्नोति कार्याणि सा स्वसा। भगिनीम् (उत) अपि च (नप्त्यम्) नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०। उ० २। ९५। इति न+पत अधोगमने-तृच्। न पतति वंशो यस्मात् स नप्ता। ऋन्नेभ्योङीप्। पा० ४। १। ५। इति नप्तृशब्दात् ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वरूपस्य विकल्पाद् यणादेशः। नप्त्रीम्, पौत्रीं दौहित्रीं वा (अध) धस्य धः। अथ, अनन्तरम् (मिथः) मिथ बधे, मेधायाम्–

तीनों संहिताओं में (यातुधानीः) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीखता है। सायण भाष्य में (यातुधानी) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह (अस्तु) क्रिया के संबन्ध में ठीक है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:०:०:०:—

सूक्तम् २९ ॥

१–६ ॥ वसिष्ठ ऋषिः । ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-वावृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥१॥

भाषार्थ—(येन) जिस (अभिवर्तेन) विजय करने वाले (मणिना) मणि से [प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् । परस्परम् (वि-केश्यः) स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीष् । विकीर्णकेशयुक्ताः परस्परताडनेन (वि) विविधम् (घ्नताम्) हन हिंसागत्योः—लोटि बहुवचने । हन्यन्ताम् । म्रियन्ताम् (यातुधान्यः) म० १ । पीड़ाप्रदाः शत्रुसेनाः (तृह्यन्ताम्) तृह हिंसायाम्–कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् (अराय्यः) रा दाने–घञ् युक् आगमः ङीष् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१—(अभि-वर्तेन) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १९ । इति अभि+वृतु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

(अभि) सर्वथा (ववृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद वा ब्रह्मा [वेदवेत्ता] के रक्षक परमेश्वर ! (अस्मान्) हमलोगों को (राष्ट्राय) राज्य भोगने के लिये (अभि) सब ओर से (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १-३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ म० १-३ और ५ कुछ भेद से हैं। जैसे (मणिना) के स्थान में [हविषा] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्यं । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।
अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः । नः । दुरस्यति ॥२॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मणस्पते] (सपत्नान्) [हमारे] प्रतिपक्षियों को, और (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

---

स अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन, जयशीलेन (मणिना) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कूजे—इन् । रत्नेन, प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राजचिन्हेन (इन्द्रः) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् पुरुषो जीवः (अभि-ववृधे) वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० । ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभितः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव (तेन) मणिना (ब्रह्मणः+पते) १ । ८ । ४ ।, १ । १ । १ । षष्ठ्याः पतिपुत्र० + पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्रह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर ! (राष्ट्राय) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च-ष्ट्रन् । राजति ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । व्रश्चभ्रस्जसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षः । राज्यवर्धनाय (वर्धय) वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्धय, समृद्धान् कुरु ॥

[उन को] (अभि) सर्वथा (अभिवृत्य) जीतकर (प्रतन्यन्तम्) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हम से (दुरस्यति) दुष्ट आचरण करे, (अभि) सर्वथा (अभि तिष्ठ) तू दबा ले ॥२॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा करके अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रक्खे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अरातयः) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः संवितामि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि-सोमः । अवीवृधत् ।
अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने हारे, सूर्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी

२—(अभि-वृत्य) अभि+वृतु—ल्यप् । अभिभूय, पराजित्य (सपत्नान्) १ । ६ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् (अभि) अभितः । सर्वथा (याः) ताः याः (अरातयः) १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति सायणेऽपि ऋ० १० । १७४ । २ (अभि+तिष्ठ) अभिभव, पराजय,त्वं ब्रह्मणस्पते (पृतन्यन्तम्) १ । ३१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना क्यच्- शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् (यः)= तम् यः (नः) अस्मान् (दुरस्यति) जरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति । पा० ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—(अभि) अभितः सर्वतः (त्वा) त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् (देवः) प्रकाशमयः (सविता) १ । १८ । २ । सूर्यः (सोमः) १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है। और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है,] (यथा) क्यों कि तू (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (असस्सि) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभि-वर्तः । अभि-भवः । सपत्न-क्षयणः । मणिः ।
राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । स-पत्नेभ्यः । परा-भुवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य], रत्न आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझ पर (राष्ट्राय)

तम्। चन्द्रः (अवीवृधत्) वृधु वृद्धौ, णिच-लुङ्। वर्धितवान्, अस्तावीत् (अभि)=अभि अवीवृधन् अस्तुवन् (विश्वा) शेर्लुक्। विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तूनि, तत्त्वानि (अभिवर्तः) म० १। वृतु-घञ्। अभिभविता, शत्रुजेता (यथा) यस्मात् कारणात् (असस्सि) अस भुवि-लट्। बहुलं छन्दसि। पा० २।४।७३ इति शपोऽलुक्। असि भवसि ॥

४—(अभिवर्तः) म० १। जयशीलः (अभिभवः) अभि+भू-अप्। अभिभविता (सपत्न-क्षयणः) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १।१३४। इति सपत्न पूर्वात् क्षि क्षये-कर्तरि ल्यु। शत्रूणां क्षयकारः (मणिः)

राज्य की वृद्धि के लिये और (सपत्नेभ्यः) वैरियों को (पराभुवे) दबाने के लिये (बध्यताम्) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिस से शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः ।
यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा ॥ ५ ॥

उत् । असौ । सूर्यः । अगात् । उत् । इदम् । मामकम् । वचः ।
यथा । अहम् । शत्रु-हः । असानि । असपत्नः । सपत्न-हा ॥५॥

भाषार्थ—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १ । रत्नम् । प्रशस्तं सामर्थ्यम् (राष्ट्राय) म० १ । राज्यवर्धनाय (मह्यम्) मदर्थम् (बध्यताम्) बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट् । धार्यताम् (सपत्नेभ्यः) शत्रुभ्यः (पराभुवे) परा+भू-भावे क्विप् । पराभवनाय ॥

५—(उत्+अगात्) १ । २८ । १ । उदितवान् (सूर्यः) १ । ३ । ५ । लोकानां प्रेरकः । आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः (उत्)=उत् अगात् (इदम्) वक्ष्यमाणं वचनम् (मामकम्) तस्येदम् । पा० । ४ । ३ । १२० । इति अस्मद् अण् । तवकममकावेकवचने । पा० ४ । ३ । ३ । इति ममकादेशः । मदीयम् (वचः) वच कथने-असुन् । वाक्यम् । वचनम् (यथा) येन कारणेन (अहम्) राजा (शत्रु-हः) अशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति शत्रु+हन हिंसागत्योः-डप्रत्ययः । शत्रूणां हन्ता (असानि) अस सत्तायां-लोट् । अहं

मारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (असपत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करे कि जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा [ढंढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १० । १५६ । १ । का पूर्वार्ध है वहां (वचः) के स्थान में (भगः) है ॥

सपत्नक्षयंणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनंस्य च ॥ ६ ॥
सपत्न-क्षयंणः । वृषा । अभि-राष्ट्रः । वि-ससहिः ।
यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनंस्य । च ॥६॥

भावार्थ—(यथा) जिस से कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं (अभिराष्ट्रः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च) और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भवानि (असपत्नः) म० २। शत्रुरहितः (सपत्नहा) क्विप् च । पा० ३।२। ७६। इति सपत्न+हन-क्विप् । रिपुहन्ता ॥

६—(सपत्न-क्षयणः) म० ४। शत्रुनाशकः (वृषा) १।१२।१। वृषु ऐश्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महाबली (अभि-राष्ट्रः) म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः (विषासहिः) सहिवहिचलियतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३।२।१७१। इति षह अभिभवे-कि । अतोलोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा, अभिभविता (एषाम्) उपस्थितानाम् (वीराणाम्) वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तानां, शूराणाम्, भटानाम् (वि-राजानि) राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराजकर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-४ ॥ आयुष्कामोऽथर्वा ऋषिः । विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

विश्वे॑ दे॒वा वस॑वो॒ रक्ष॑ते॒ममु॒तादि॑त्या जागृ॒त यू॒य-
मु॒स्मिन् । मेमं सना॑भिरु॒त वा॒न्यना॑भि॒र्मेमं प्राप॑त्
पौरु॑षेयो व॒धो यः ॥ १ ॥

विश्वे॑ । दे॒वाः । वस॑वः । रक्ष॑त । इ॒मम् । उ॒त । आ॒दि॒त्याः । जा॒गृ॒त । यू॒यम् । अ॒स्मिन् । मा । इ॒मम् । स-ना॑भिः । उ॒त । वा॒ । अ॒न्य-ना॑भिः । मा । इ॒मम् । प्र । आ॒प॒त् । पौरु॑षेयः । व॒धः । यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे श्रेष्ठ (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महात्माओ ! (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः) हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के विषय में (जागृत) जागते रहो। (सनाभिः) अपने बन्धु का, (उत वा)

शासिता भवानि (जनस्य) जनी प्रादुर्भावे-अच् । अधीगर्थदयेषां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—(देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः (वसवः) १ । ६ । १ । निवासयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः (रक्षत) पालयत (इमम्) माम् राजानम् (आदित्याः) १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः । अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः (जागृत) जागृ निन्द्राक्षये—लोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत (मा) निषेधे (स-नाभिः)

अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (बधः) बध का यत्न है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुंच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय मन्त्री और युद्ध मन्त्री आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ ३ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेद-मुक्तम् । सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे । शृणुत । इदम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि । एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान होकर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को

नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति णह बन्धने-कर्मणि इञ् समानस्य सः । समानेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वज्ञातिकृतो बधः (अन्य-नाभिः) अन्येन संबद्धः । अज्ञातिकृतो वधः (प्र+आपत्) आप्लृ व्याप्तौ—लुङि । प्राप्नोतु (पौरुषेयः) सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसमूहतेनकृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-ढञ् । पुरुषकृतः (वधः) १ । २० । २ । हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—(पितरः) १ । १ । १ । पालकाः, उत्पादकाः (पुत्राः) १ । ११ । ५ । आत्मजाः (स-चेतसः) समान+चिती ज्ञाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः (शृणुत) श्रु

(शृणुत) सुनो। (सर्वेभ्यः वः) तुम सब को मैं (एतम्) इसे [अपने को) (परि ददामि) सौंपता हूं, (एतम्) इस पुरुष के लिये [मेरे लिये] (स्वस्ति) कल्याण और मङ्गल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुंचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(जरसे) शब्द का अर्थ "स्तुति के लिये" निघंटु ३। १४। निरु० १०। ८। और सायणभाष्य ऋग्वेद १। २। २। के प्रमाण से किया है। यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम्। बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है। देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं,

---

श्रवणे—लोट्। आकर्णयत (इदम्) वक्ष्यमाणम् (उक्तम्) वच कथने—क्त। वचिस्वपियजादी० पा० ६। १। १५। इति संप्रसारणम्। वचनम् (वः) युष्मभ्यम् (परि ददामि) रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम्। रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि (एतम्) आत्मानम् (स्वस्ति) सावसेः। उ० ४। १८१। सु+अस सत्तायां—ति। आशीर्वादम्, क्षेमम् (एनम्) माम् प्रति। (जरसे) जरते स्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ—निघ० ३। १४। जरा स्तुतिर्जरते—स्तुतिकर्मणः। निरु० १०। ८। यथा। वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। ऋ० १। २। २। जरन्ते=स्तुवन्ति, जरितारः=स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये। जॄ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः। यद्वा। गॄ शब्दे=स्तुतौ—असुन्, गकारस्य जकारः। स्तुत्यर्थम्। प्रशंसाप्राप्त्यर्थम् (वहाथ) वह प्रापणे-लेट्। द्विकर्मकः। यूयं प्रापयत ॥

वहां पर स्वर्ग में बिना लंगड़े हुये और अंगों से बिना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें।

और देखो यजुर्वेद २५। २१। तथा ऋग्वेद १। ८६। ८।

भुद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भुद्रं पंश्येमाक्षभिर्यजत्राः । स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसंस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः ॥

हे विद्वान् जनो! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ! आंखों से हम शुभ देखते रहें। दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वं१न्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे । ओषधीषु । पशुषु । अप्-सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम् आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून् ॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्यलोक में, (ओषधिषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो। (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त

३—(देवाः) हे दिव्यगुणाः। दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः (दिवि) दिवु क्रीड़ा-विजिगीषाकान्तिगत्यादिषु-क्विप्। प्रकाशे सूर्यसमानलोके (स्थ) अस भुवि लट्। भवथ, वर्तध्वे (पृथिव्याम्) १। २। १। विस्तृतायां प्रख्यातायां वा भूमौ (अन्तरिक्षे) अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते। अन्तर्+ईक्ष दर्शने-कर्मणि

(आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्यून) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

घञ् । यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, अकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा–इति भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वमध्ये दृश्यमाने । आकाशे (ओषधीषु) १ । २३ । १ ओषधि–ङीप् ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफलधान्यादिषु (पशुषु) अर्जिदृशिकम्यमिपसीति० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे–कु, पश्यादेशाः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्राणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु (अप्सु) १ । ४ । ३ । आप्लृ–क्विप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा (अन्तः) मध्ये (ते) सर्वे देवा यूयम् (कृणुत) कुरुत (जरसम्) म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्श-आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंसनीयम् (आयुः) एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ–उसि । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः (अस्मै) आत्मने, मह्यम् (शतम्) अपरिमितान् (अन्यान्) स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून (परि+वृणक्तु) वृजी वर्जने–लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु (मृत्यून) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे–त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि । अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ८ । २ । २७ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है ।
(अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में । देखो श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७ । २५ और २६ ॥

येषां प्रयाजा उत । वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः । येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम् । प्र-याजाः । उत । वा । अनु-याजाः । हुत-भागाः । अहुत-अदः । च । देवाः । येषाम् । वः । पञ्च । प्र-दिशः । वि-भक्ताः । तान् । वः । अस्मै । सत्र-सदः । कृणोमि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतादः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने हारे [वा प्रकाश वाले] हैं । और (येषाम् वः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तम् दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं (तान् वः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं ॥ ४ ॥

४—(प्र-याजाः) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा । ३ । ३ । १९ । इति प्र+यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-घञ् । प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे । पा० ७ । ३ । ६२ । इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते । प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि (वा) समुच्चये, पाद-पूरणे वा (अनु-याजाः) अनु+यज-घञ् पूर्ववत् । अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि (हुतभागाः) हु दानादानदनेषु-क्त । भज भागसेवयोः-भावे घञ् । हुतस्य, दत्तस्य, दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः (अहुत-अदः) संपदादिभ्यः क्विप् । वार्त्तिकम् , पा०३ । ३ । ९४ । अहुत+अद भक्षणे-भावे क्विप् । अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हों और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुनकर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है। भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ ! फिर उस का परलोक कहां से हो ३१ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-४ ॥ ब्रह्मा ऋषिः । प्रजापतिर्देवता । १, २ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्ठाज् ज्योतिः, ११×३+८=४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥

भोजनानि । धनधान्यादीनि (देवाः) १ । ७ । १ । विजयिनः । प्रकाशमयाः (पञ्च) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति बाहुलकात् पचि व्यक्तीकारे विस्तारे च-कनिन् । विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः । संख्यावाची वा (प्र-दिशः) प्र + दिश दाने आज्ञापने च-क्विप् । प्रकृष्टा दानक्रियाः । प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः (वि-भक्ताः) वि + भज-क्त । प्राप्तविभागाः (अस्मै) आत्मने, मदर्थम् (सत्र-सदः) गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० । ४ । १६७ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-त्रप्रत्ययः । सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः । सभास्थानम् । पुनः । सत्सूद्विषद्रुह० । पा० ३ । २ । ६१ इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः-कर्तरि क्विप् । सभासदः, सभ्यान् (कृणोमि) कृवि हिंसाकरणयोः-लट् । करोमि ॥

आशा॑नाम् । आशा-पालेभ्यः॑ । चतुः-भ्यः॑ । अमृते॑भ्यः ।
इदम् । भूतस्य॑ । अधि॑-अक्षेभ्यः । वि॒धेम । हविषा॑ । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य पुरुषों [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष पदार्थों] के लिये (अमृतेभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अध्यक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये। इन के ही पाने से मनुष्य की सब आशायें वा कामनायें पूर्ण होती हैं ॥ १ ॥

य आशा॑नामाशापा॒लाश्च॒त्वार॒ स्थन॑ दे॒वाः ।
ते नो॒ निर्ऋ॑त्याः पाशे॑भ्यो मु॒ञ्चतां॒हसो॑अंहसः ॥ २ ॥

१—(आशानाम्) आङ्+अशू व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप्। दिशानां मध्ये (आशा-पालेभ्यः) कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। इति आशा+पल वा पाल, रक्षणे-अण्। दिशानाम् आकांक्षानां वा पालकेभ्यः। लोकपालेभ्यः (चतुःभ्यः) चतेरुरन्। उ० ५। ५८। इति चत याचने-उरन्। याचनीयेभ्यः, कमनीयेभ्यः। अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः (अमृतेभ्यः) मृतं मरणम्। मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः (इदम्) इदानीम् (भूतस्य) लोकस्य (अधि-अक्षेभ्यः) अध्यक्ष्णोति समन्ताद् व्याप्नोति। अधि+अक्ष व्याप्तौ संहतौ-अच्। व्यापकेभ्यः। अधिपतिभ्यः (विधेम) १। १२। २। परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा (कस्मै देवाय हविषा विधेम) य० १३। ४ (हविषा) १। १२। २। आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशा॑नाम् । आ॒शा॒ऽपा॒लाः । च॒त्वारः॑ । स्थन॑ । दे॒वाः ।
ते । नः॒ । निःऽऋ॑त्याः । पाशे॑भ्यः । मु॒ञ्चत॑ । अंह॑सःऽअंहसः ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओ ! (ये) जो तुम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार] (आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थन) वर्तमान हो, (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसोअंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारो पदार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश करना चहिये ॥ २ ॥

अस्रा॑मस्त्वा ह॒विषा॑ यजा॒म्यश्लो॑णस्त्वा घृ॒तेन॑
जुहोमि । य आशा॑नामाशा॒पाल॑स्तु॒रीयो॑ दे॒वः स
नः॑ सुभू॒तमेह व॑क्षत् ॥ ३ ॥

२—(आशानाम्) म० १ । दिशानां मध्ये (आशा-पालाः) म० १ । आकांक्षानाम् पालकाः, लोकपालाः (चत्वारः) म० १ । याचनीयाः प्रार्थनीयाः । चतुःसंख्याका धर्मार्थकाममोक्षा वा (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूयं स्त भवत (देवाः) हे दिव्यगुणाः पुरुषाः (निःऋत्याः) निः+ऋ हिंसने क्तिन् । नितराम् ऋतिर्घृणा अशुभं वा यस्याः सा निर्ऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः । उपद्रवस्य (पाशेभ्यः) पश बाधे, ग्रन्थे-घञ् । बन्धनेभ्यः (मुञ्चत) मुच्लृ मोक्षे । मोचयत (अंहसः-अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ । इति अम रोगे, पीड़ने-असुन्, हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वस्माद् दुःखात्, पापात् ॥

अस्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः । सः । नः । सु-भूतम् । आ । इह । वक्षत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (अस्रामः) श्रम रहित मैं (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूं, (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ मैं (त्वा) तुझ को (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि) स्वीकार करता हूं। (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में (आशापालः) आशाओं को पालन करने वाला, (तुरीयः) बड़ा बेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाशमय है, (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (आ+वक्षत्) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [अथवा धर्म, अर्थ, और काम की सिद्धि से पाये हुये चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—(अस्रामः) श्रमु तपःखेदयोः–घञ् । शस्य सकारः । श्रमरहितः, खेदरहितः (त्वा) त्वाम्, परमेश्वरम् (हविषा) म० १ । भक्त्या । (यजामि) पूजयामि (अश्लोणः) श्रोण संघाते=राशीकरणे—अच् । रस्य लः । अश्रोणः, अपङ्गुः (घृतेन) अग्निघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८६ । इति घृ भासे—भावे क्त । दीप्त्या, स्वज्ञानप्रकाशेन । आज्येन (जुहोमि) १ । १५ । १ । अहम् आददे, स्वीकरोमि (यः) आशापालः (आशानाम्) म० १ । दिशानाम् (आशा-पालः) म० १ । इच्छापालकः (तुरीयः) तुरो वेगः, अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरवान, वेगवान् परमेश्वरः [अथवा] चतुरश्छ्यतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ, चकारलोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको मोक्षः–इति (सु-भूतम्) सु+भू सत्तायां भावे-क्त । सुभूतिम् । सु सुष्ठ प्रभूतं धनम्, (आ) समन्तात् (इह) अत्र ।

सायणभाष्य में (अस्रामः) के स्थान में [अश्रामः] और (अश्लोणः) के स्थान में [अश्रोणः] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः । जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः । अस्तु । ज्योक् । एव । दृशेम । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द [होवे] । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्)

(वक्षत्) वह प्रापणे-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत् , प्रापयेत् , आहृत्य दद्यात् ।

४-(स्वस्ति) १ । ३० । २ । क्षेमम् , मङ्गलम् (मात्रे) १ । २ । १ माननीयायै जनन्यै (पित्रे) १ । २ १ । पालकाय, जनकाय (गोभ्यः) १ । २ । ३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः (जगते) वर्तमानेपृषद्-बृहन्महज् जगच् छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति गम्लृ-अति । निपातितश्च । गतिशीलाय संसाराय (पुरुषेभ्यः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः (विश्वम्) सर्वम् (सु-भूतम्) म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् (सुविदत्रम्) सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । इति सु+विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद्

उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥ ४॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४॥

सूक्तम् ३२॥

१-४॥ ब्रह्मा ऋषिः। ब्रह्म देवता। अनुष्टुप् छन्दः॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश॥

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम्। जनासः। विदथ। महत्। ब्रह्म। वदिष्यति। न। तत्। पृथिव्याम्। नो इति। दिवि। येन। प्राणन्ति। वीरुधः ॥१॥

भाषार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा। (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

द्युपसर्गात्-निरु० ७। ६। तथा। सुविदत्रः कल्याणविद्यः-निरु० ६। १४। शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा (ज्योक्) १। ६। ३। चिरकालम् (दृशेम) दृशिर् प्रेक्षणे-आशीर्लिङ्। वयं पश्येम (सूर्यम्) १। ३। ५। आदित्यम्। भानुप्रकाशम्॥

१—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (जनासः) १८। १। आज्जसेरसुक्। पा० ७। १। ५०। इति जसि असुक्। हे जनाः, विद्वांसः (विदथ) विद ज्ञाने अदादिः—लट् मध्यमबहुवचनं छन्दसि शः। यूयं वित्थ, जानीथ (महत्)

(दिवि) सूर्य्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्टि के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा सूर्य्य आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है। ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है, खंड १ मन्त्र ३।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनु शिष्यादन्यदेव तद्वि-दितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत् का अनुशासन करता है। वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है। ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्हों ने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

१।१०।४। पूजनीयम् (ब्रह्म) १।८।४। परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम् (वदिष्यति) वद वाक्ये—लृट्। कथयिष्यति (न) निषेधे (तत्) ब्रह्म (पृथिव्याम्) १।२।१। प्रख्यातायां भूमौ (नो इति) न—उ। नैव (दिवि) १।३०।३। द्युलोके, सूर्यमण्डले (येन) ब्रह्मणा (प्राणन्ति) प्र+अन जीवने, अदादिः। जीवन्ति, श्वसन्ति (वीरुधः) विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् वा सा वीरुत्। वि+रुध आवरणे-क्विप्, दीर्घश्च। अथवा। वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप्। न्यङ्क्वादीनां च। पा० ७।३।५३। इति हस्य धः। विरोहण-शीलाः। विस्तृता लतादयः। लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, ख० १ म० ८ ॥

यत् प्राणेन न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है। जिस करके प्राण चलाया जाता है। उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिस के पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरि॑क्ष आसां स्थाम॑ श्रान्तसदा॑मिव।
आस्थानम॑स्य भूतस्य॑ विदुष्टद् वे॒धसो॒ न वा॑ ॥ ४ ॥
अन्तरि॑क्षे। आसाम्। स्थाम॑। श्रान्तसदा॑म्ऽइव।
आऽस्थानम्। अस्य। भूतस्य॑। विदुः। तत्। वे॒धसः॑ न। वा ॥२॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देनेहारे आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इन का [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम) ठहराव है (श्रान्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव। (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भावार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है। इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—(अन्तरिक्षे) १।३०।३। सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे (आसाम्) वीरुधाम्। म० १। विरोहणशीलानां पदार्थानाम् (स्थाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन्। स्थानं। स्थितिः (श्रान्तसदाम्) श्रमु तपःखेदयोः-भावे क्त+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-क्विप्। श्रमेण मार्गखेदेन स्थितानाम् (आ-स्थानम्) आ+ष्ठा—ल्युट्। स्थानम्। आश्रयम् (अस्य) परिदृश्यमानस्य (भूतस्य) लोकस्य, जगतः (विदुः) विद ज्ञाने—लट्। विदन्ति जानन्ति (तत्) कारणभूतं ब्रह्म (वेधसः) १। ११।१। मेधाविनः, विद्वांसः (न) निषेधे (वा) अथवा ॥

विचार से निश्चित करते हैं जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह ब्रह्म अति अधिक अनन्त और अगम्य जान पड़ता है इस से वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोद॑सी रेज॑माने॒ भूमि॑श्च नि॒रत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रं तद॒द्य स॑र्व॒दा स॑मु॒द्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोद॑सी॒ इति॑ । रेज॑माने॒ इति॑ । भूमिः॑ । च । निः॒ऽअत॑क्षतम् । आ॒र्द्रम् । तत् । अ॒द्य । स॒र्व॒दा । स॒मु॒द्रस्य॑ऽइव । स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रोदसी = सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि ! (रेजमाने) कांपते हुये तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतक्षतम्) उत्पन्न किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अद्य) आज (सर्वदा) सदा से (समुद्रस्य) सींचनेवाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥३॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को (कंपमान) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—(यत्) आर्द्रम् (रोदसी) एकवचनं स्त्री। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति रुध आवरणे-असुन्। षिद्गौरादिभ्यश्च। पा० ४। १। ४१। इति ङीष्। द्युलोको भूमिर्वा। सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः। हे रोदसि। सूर्यलोक (रेजमाने) रेजृ कम्पने-शानच्। भयसते रेजत इति भयवेपनयोः-निरु० ३। २१। उभे कम्पमाने (भूमिः) १। ११। २। भवन्ति पदार्था अस्यामिति। पृथिवी (निः-अतक्षतम्) तक्षू तनूकरणे-लङ्। युवामुदपादयतम् (आर्द्रम्) अर्देर्दीर्घश्च। उ० २। १८। इति अर्द बधे, गतौ-रक्, दीर्घश्च। क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् (तत्) प्रसिद्धम् (अद्य) १। १। १। वर्तमाने दिने। (समुद्रस्य) १। ३। ८। समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य (स्रोत्याः) पुंलि०। स्रोतसो विभाषा ड्यड्यौ। पा० ४। ४। ११३। इति स्रोतस्-ड्य। डित्वात् टि लोपः। स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पद पाठ और उस का अर्थ [हे द्यावापृथिव्यौ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है। यहां (रोदसी) एक वचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान है। फिर (भूमिः च) का भी अर्थ [भूमि और द्युलोक) उक्त भाष्य में है ॥

विश्वंमन्यामंभीवार तदन्यस्यामधिं श्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वार । तत् । अन्यस्याम् । अधि । श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस ने (अन्याम्) एक [सूर्य्य वा भूमि] को (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधि श्रितम्) आश्रित हुआ। (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले, वा सब में विद्यमान ब्रह्म] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—(विश्वम्) १। १०। २। सर्वं व्याप्तं आर्द्रम्। म० ३ (अन्याम्) एकाम् द्यां भूमिं वा (अभि वार) वृञ् वरणे-लिट्। वकारलोपश्छान्दसः। सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार (तत्) आर्द्रम् (अन्यस्याम्) अपरस्याम् (अधि+श्रितम्) आश्रितम् (दिवे) १। ३०। ३। आकाशाय। तद्रूपाय (विश्व-वेदसे) विद्लृ लाभे, वा विद ज्ञाने सत्तायां च-असुन्। सर्वधनयुक्तायै, सर्वाधारभूतायै (पृथिव्यै) १। २। १। विस्तीर्णायै भूम्यै, तद्रूपाय परमेश्वराय (अकरम्। डुकृञ् करणे-लुङ्। अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् को उपकारी होता है। विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद अ० ३ । म० ५ । में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरि॑व भू॒म्ना पृ॑थि॒वीव॑ वरि॒म्णा ॥

सब का आधार, सब में व्यापक, सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-४ ॥ शंतातिर्ऋषिः । आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिर॑ण्यवर्णाः॒ शुच॑यः पाव॒का यासु॑ जा॒तः स॑वि॒ता यास्व॒ग्निः । या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ १ ॥

हिर॑ण्य-वर्णाः । शुच॑यः । पा॒व॒काः । यासु॑ । जा॒तः । स॒वि॒ता । यासु॑ । अ॒ग्निः । याः । अ॒ग्निम् । गर्भ॑म् । द॒धि॒रे । सु-वर्णाः । ताः । नः॒ । आपः॑ । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[जो] (हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली (शुचयः) निर्मल स्वभाव वाली और (पावकाः) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः) हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गति-कान्त्योः-कन्यन्, हिर् आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदात्तः । कॄवॄजॄसिद्रुपन्यनिस्वपि-भ्यो नित् । उ० ३ । १० । इति वृञ् वरणे-न, स च नित् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-

हैं, (यासु) जिन में (सविता) चलाने हारा वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिन में (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (जातः) उत्पन्न हुई। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और बिजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः)=व्यापक तन्मात्रायें-श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद २७। २५ ॥

२-(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम्। पा० ६। २। १। इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः। कमनीयरूपयुक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः। प्रकाशस्वरूपाः (शुचयः) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति शुचिर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित्। शुद्धस्वभावाः (पावकाः) पूञ् शोधे-घञ्। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति कै शब्दे-कः। उपपदमतिङ्। पा० २। २। १९। इति समासः। टाप्। यद्वा। पूञ्-एवुल्। टाप्। पावकादीनां छन्दसीति। वा० पा० ७। ३। ४५। इत्वं निषिद्धम्। पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयित्र्यः, ज्ञापयित्र्यः। पावयित्र्यः, शोधयित्र्यः (यासु) अप्सु (जातः) जनी प्रादुर्भावे-क्त। प्रादुर्भूतः, उत्पन्नः (सविता) १। १८। २। सूर्यः (अग्निः) १। ६। २। पार्थिवाग्निः (अग्निम्) वैद्युताग्निम् (गर्भम्) १। ११। २। पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम् (दधिरे) डुधाञ् धारणपोषणयोः-लिट्। दधुः, स्थापयामासुः (सु-वर्णाः) वृञ्-न। शोभनरूपाः (नः) अस्मभ्यम् (आपः) १। ५। १। व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु० २७। २५ (शम्) १। ३। १। शुभकारिण्यः (स्योनाः) सिवेष्टेर्यू च। उ० ३। ६। इति षिवु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः टिभागस्य यू इत्यादेशः। स्योनं सुखनाम-निघ० । ३। ६। अर्शआदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे-अच्। सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-पश्यन् जनानाम् । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम् । राजा । वरुणः । याति । मध्ये । सत्यानृते इति सत्य-अनृते । अव-पश्यन् । जनानाम् । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥२॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्मवाले जीवों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य को (अवपश्यन्) देखता हुआ (याति) चलता है । (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करनेहारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक (वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवोंके पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल देता है । इन गुणों से उपकार लेकर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—(यासाम्) अपाम् तन्मात्राणाम् (राजा) १ । १० । १ । ईश्वरः । नियन्ता (वरुणः) १ । ३ । ३ । वृणोति सर्वं, व्रियते अन्यैरिति वरुणः । सर्ववरणीयः परमेश्वरः (याति) गच्छति । व्याप्नोति (मध्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः । अन्तर्वर्त्तिनि भागे (सत्य-अनृते) सद्भ्यो हितम् । सत्-यत् । सत्यं, यथार्थं, तथ्यम् । न ऋतम् । अनृतम् असत्यम्, मिथ्याकरणम् । सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी (अव-पश्यन्) दृशिर्-शतृ । अवलोकयन् विजानन् (जनानाम्) १ । ८ । १ । जन्मवतां लोकानाम् । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

यासां॑ दे॒वा दि॒वि कृ॒ण्वन्ति॑ भ॒क्षं या अ॒न्तरि॑क्षे बहु॒धा भव॑न्ति । या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ३ ॥

यासा॑म् । दे॒वाः । दि॒वि । कृ॒ण्वन्ति॑ । भ॒क्षम् । याः । अ॒न्तरि॑क्षे । ब॒हु॒ऽधा । भव॑न्ति । याः । अ॒ग्निम् । गर्भ॑म् । द॒धि॒रे । सु॒ऽवर्णाः । ताः । नः॒ । आपः॑ । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (दिवि) व्यवहार के योग्य आकाश में (यासाम्) जिन का (भक्षम्) भोजन (कृण्वन्ति) करते हैं और (याः) जो [तन्मात्रायें] (अन्तरिक्षे] सब के मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा) अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्त्तमान हैं । और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायें ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का कारण हैं । (देवाः) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—(यासाम्) अपाम् (देवाः) १ । ७ । १ । व्यावहारिकपदार्थाः । प्रकाशमयाः किरणाः (दिवि) १ । ३० । ३ । व्यवहारयोग्ये आकाशे । जगति (कृण्वन्ति) कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति (भक्षम्) भक्ष अदने-कर्मणि घञ् । भक्ष्यम् , अन्नम् , पोषणम् (याः) आपः (अन्तरिक्षे) १ । ३० । ३ मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये (बहु-धा) विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु+धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले (भवन्ति) वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम्-म० १॥

शिवेन॑ मा चक्षु॑षा पश्यतापः शिवया॑ तन्वोप॑ स्पृशत त्वचं॑ मे । घृतश्चुतः शुच॑यो याः पा॑वकास्ता न आपः शं स्योना भ॑वन्तु ॥ ४ ॥

शिवेन॑ । मा । चक्षु॑षा । पश्यत । आपः । शिवया॑ । तन्वा॑ । उप॑ । स्पृशत । त्वच॑म् । मे । घृतश्चुत॑ः । शुच॑यः । याः । पावकाः । ताः । नः । आप॑ः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझ को (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) रूप से (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम पास से छूओ । (याः) जो (आपः) तन्मात्रायें (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि जताने वाली हैं, (ताः) वह [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देनेवाली (भवन्तु) होवें ॥ ४ ॥

४—(शिवेन) सर्वनिघृष्वरिष्व० उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने यद्वा, शो तनूकरणे-वन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, वा श्यति अशुभानीति । सुखकरेण (मा) माम् (चक्षुषा) चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११६ । इति चक्ष कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् ख्याञादेशाभावः । लोचनेन, नयनेन, (पश्यत) अवलोकयत (आपः) म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः (शिवया) कल्याण्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया (तन्वा) १ । १ । १ । रूपेण । (उप+स्पृशत) संस्पृशत (त्वचम्) १ । २४ । २ । शरीरम् (घृत-श्चुतः) घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः, अमृतम् । श्चुतिर् क्षरणे क्विप् । अमृतस्राविण्यः । अन्यद् व्याख्यातम्-म० १ ॥

भावार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ अथर्वा ऋषिः। वीरुद् [लता] देवता। अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इयं वीरुन्मधुंजाता मधुंना त्वा खनामसि ।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुंमतस्कृधि ॥ १ ॥

इयम् । वीरुत् । मधुं-जाता । मधुंना । त्वा । खनामसि ।
मधोः। अधि। प्र-जाता। असि। सा। नः। मधुं-मतः। कृधि॥१॥

भाषार्थ—(इयम्) यह तू (वीरुत्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) ज्ञान के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा)

१—(इयम्) पुरोवर्तिनी त्वम् (वीरुत्) १। ३२। १। विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या (मधु-जाता) १। ४। १। मन ज्ञाने–उ, धश्चान्तादेशः। जनी–क्त। मधुनो ज्ञानात् क्षौद्राद् वा यथा उत्पन्ना (मधुना) १। ४। १। ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा (त्वा) त्वाम् वीरुधम् (खनामसि) खनु अवदारणे–लट्, मस इत्वम्। खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः (मधोः) पुंलिंगे। वसन्तर्तुसकाशात्। स्त्रियाम्। विद्यायाः सकाशात् (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (प्र-जाता) प्रादुर्भूता (असि) वर्त्तसे (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (मधु-मतः) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्।

सो तू (नः) हम को (मधुमतः) उत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [मन जानना-उ, न=ध] का अर्थ ज्ञात है। धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है॥ १ ॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु [शहत्] से उत्पन्न हुई है, (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है, (सा) सो तू (नः) हम को (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [मन जानना] से सिद्ध होकर [शहत्] के रस का वाचक है। इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहत् की बेल वा प्रेमलता माना है। (मधु) शहत् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है, इसी प्रकार (मधुना) प्रेम रस के साथ [खोदने] अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मूले । मधूलकम् । मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥२॥

भाषार्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे सिरे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा की

पा० ५ । २ । ९४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान्, क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा (कृधि) कुरु ॥

२—(जिह्वायाः) । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः (अग्रे)

मूल में (मधूलकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे। (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुंच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन और परीक्षण से प्रेमपूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उनके हृदय में घर करके सुख का वरदान देती है ॥२॥

मधु॑मन्मे नि॒क्रम॑णं मधु॑मन्मे प॒राय॑णम् ।
वा॒चा व॑दामि॒ मधु॑मद् भूयासं॒ मधु॑संदृशः ॥ ३ ॥

मधु॑-मत् । मे॒ । नि॒-क्रम॑णम् । मधु॑-मत् । मे॒ । प॒रा-अय॑नम् ।
वा॒चा । व॒दा॒मि॒ । मधु॑-मत् । भू॒यास॑म् । मधु॑-संदृशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञानवाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा (परायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्)

ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र०। उ० २। २८। इति अगि गतौ-रन्। उपरिभागे (मधु) म० १। ज्ञानं क्षौद्ररसो वा (जिह्वा-मूले) मूशक्यविभ्यः क्लः। उ० ४। १२८। इति मूङ् बन्धे-क्ल। मवते बध्नाति वृक्षादिकं मूलम्। जिह्वाया रसनाया मूलभागे। (मधूलकम्) मधु+उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन्। यद्वा मधु+लक स्वादे, प्राप्तौ च-अच्, दीर्घत्वम्। मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः। मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः (मम) मदीये (इत्) एव (अह) अवश्यम् (क्रतौ) कृञः कतुः। उ० १। ७६। इति कृञ्-कतु। क्रतुः, कर्म-निघ० २। १। प्रज्ञा-निघ० ३। ६। कर्मणि बुद्धौ वा (असः) १। १६। ४। त्वं भूयाः (चित्तम्) चिती ज्ञाने-क्त। अन्तःकरणम् (उप-आयसि) उप+आङ्+अयङ् गतौ-लट्। उपागच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—(मधु-मत्) म० १। अतिविज्ञानयुक्तम्। मधुरसोपेतम् (नि-क्रमणम्) नि+क्रमु गतौ—ल्युट्। निकटगमनम्, आगमनम् (परा-अयनम्)

बहुत ज्ञान वाला वा रस से भरा हुआ होवे । (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूं और मैं (मधुसन्दृशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में (मधुमान्) ज्ञान वान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा (मधुसन्दृशः) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधो॑रस्मि॒ मधु॑तरो म॒दुघा॒न्मधु॑मत्तरः ।
मामित् किल॒ त्वं व॒नाः शाखां॒ मधु॑मतीमिव ॥ ४ ॥

मधो॑ः । अ॒स्मि॒ । मधु॑-तरः । म॒दुघा॑त् । मधु॑मत्-तरः ।
माम् । इत् । किल॑ । त्वम् । वना॑ः । शाखा॑म् । मधु॑मतीम्-इव ॥४॥

भाषार्थ—(मधोः) मधुर रस से, मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) होऊं, (मदुघात्) लड्डू [वा मुलहटी ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊं। (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझ से ही (किल) निश्चय

परा+अय गतौ ल्युट्। दूरगमनम्, प्रस्थानम् (वाचा) १ । १ । १ । वाण्या (वदामि) वद वाचि-लिङर्थे लट् । कथयासम्, उच्यासम् (भूयासम्) भू सत्तायाम्—आशिषि लिङ् । अहं स्याम् (मधु-सन्दृशः) इगुपधज्ञाप्री-किरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+दृशिर् प्रेक्षे=चाक्षुषज्ञाने-क । ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—(मधोः) म० १ । मधुररसात्, क्षौद्ररसात् (अस्मि) अहं भवानि (मधु-तरः) द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः (मदुघात्) मुद हर्षे-एवुल् । छान्दसं रूपम् । मोदकात् । मिष्टखाद्यविशेषात्। यद्वा [मधुकात्] मधु+कै-क । मधु मधुरं कायति

करके (वनाः) प्रेमकर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [अनुराग करते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ठ मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है—अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥ १ ॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि॑ त्वा परितत्नुने॒क्षुणा॑गा॒मवि॑द्विषे ।
यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑ः ॥ ५ ॥

परि॑ । त्वा॒ । प॒रि॒ऽत॒त्नुना॑ । इ॒क्षुणा॑ । अ॒गा॒म् । अवि॑ऽद्विषे । यथा॑ । माम् । का॒मिनी॑ । अस॑ः । यथा॑ । मत् । न । अप॑ऽगाः । अस॑ः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम् । यष्टिमधुकायाः, ओषधिविशेषात् । सायण-भाष्ये तु (मदुघात्)=मधुदुघात्, मधु+दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-शब्दे धुलापश्छान्दसः, मधुस्राविणः पदार्थविशेषात्-इति वर्तते (मधुमत्-तरः) मधु+मतुप्+तरप् पूर्ववत् । पा० ५ । ३ । ५७ । अधिकतरमधुमान्, उपकारि-तरः (माम्) विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् (किल) प्रसिद्धौ, निश्चयेन (त्वम्) विद्ये (वनाः) वन संभक्तौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ६४ । इति आडागमः । त्वं संभजेः, सेवस्व, कामयेथाः (शाखाम्) शाख व्याप्तौ-अच्, टाप् । वृक्षाङ्गविशेषम् (मधुमतीम्) म० १ । मधु+मतुप्—ङीप् । मधुररसयुक्ताम् ॥

भाषार्थ—(परितत्नुना) बहुत फैली हुई (इक्षुणा) लालसा के साथ [अथवा, ऊख जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) वैर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझ को (परि) सब ओर से (अगाम्) मैं ने पाया है । (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-४ ॥ अथर्वा ऋषिः । हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—(परि) सर्वतो भावेन (त्वा) त्वाम् मधुलतां विद्याम् (परितत्नुना) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति बाहुलकात् । तनु विस्तारे-नु प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन (इक्षुणा) इषेः क्सुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इच्छायाम्-क्सु । अभिलाषेण, यद्वा । गुडतृणेन प्रेमरूपेण (अगाम्) इण गतौ-लुङ् । प्राप्तवानस्मि (अवि-द्विषे) न+वि+द्विष वैरे-भावे क्विप् । वैरत्यागार्थम् (यथा) येन प्रकारेण (माम्) ब्रह्मचारिणम् (कामिनी) अन इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । ङीप् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना (असः) १ । १६ । ४ । त्वम् भवेः, भूयाः (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अप-गाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप+गाङ् गतौ-विच् । अपयानशीला, प्रस्थानशीला, वियोगिनी ॥

यत्। आ-अबध्नन्। दाक्षायणाः (=दक्ष-अयनाः)। हिरण्यम्। शत-अनीकाय। सु-मनस्यमानाः। तत्। ते। बध्नामि। आयुषे। वर्चसे। बलाय। दीर्घायु-त्वाय। शत-शारदाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि को (दाक्षायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबन्धन्) बांधा है। (तत्) उस को (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) यश के लिये, (बलाय) बल के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—(यत्) हिरण्यम् (आ) समन्तात् (अबध्नन्) बन्ध बन्धने-लङ्। अधारयन्, अस्थापयन्। (दाक्षायणाः) दक्ष-अयनाः। दक्ष वृद्धौ-अच्। दक्षते प्रवृद्धये समर्थो भवतीति। दक्षः, बलम्। निघ० २। ६। अय गतौ-ल्युट्। अयनं गतिः। पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम्। दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दाक्षायणाः। परमोत्साहिनः शूरवीरा विद्वांसो वा (हिरण्यम्) १। ६। २। कमनीयं विज्ञानं। सुवर्णादिकं धनम् (शत-अनीकाय) दिक्संख्ये संज्ञायाम्। पा० २। १। ५०। इति तत्पुरुषः। शतसेनाप्राप्तये (सु-मनस्यमानाः) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। पा० ३। १। ११। इति मनस्-क्यङ्, विकल्पत्वादत्र सकारभावः, ततो लटः शानच्। शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः, शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः (बध्नामि) बन्ध बन्धने-क्र्यादि। धारयामि (आयुषे) १। ३०। ३। ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः। आयाय, लाभाय (वर्चसे) १। ६। ४। तेजसे, यशसे (बलाय) १। १। १। पराक्रमाय (दीर्घायु-त्वाय) दॄ विदारणे-घञ्। छन्दसीणः। उ० १। २। इति इण् गतौ-उण्-आयुः। भावे त्वप्रत्ययः। लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय (शत-शारदाय) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्। पा० ४। ३। १६। इति शरद्-अण्। शरदृतोः संबन्धी कालः संवत्सरः। शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्त्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है। अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः
प्रथमजं ह्ये३तत्। यो बिभर्ति दाक्षायणं हिर-
ण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न। एनम्। रक्षांसि। न। पिशाचाः। सहन्ते। देवानाम्। ओजः। प्रथम-जम्। हि। एतत्। यः। बिभर्ति। दाक्षाय-णम् (=दक्ष-अयनम्)। हिरण्यम्। सः। जीवेषु। कृणुते। दीर्घम्। आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करने हारे राक्षस और (न) न (पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथम उत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है। (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्)

२—(न) निषेधे (एनम्) हिरण्यधारिणं पुरुषम् (रक्षांसि) १। २१। ३। राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः (पिशाचाः) १। १६। ३। मांसभक्षिणः पिशिताशिनो महादुःखदायिनः (सहन्ते) अभिभवन्ति, बाधन्ते (देवानाम्) विदुषाम् (ओजः) १। १२। १। पराक्रमः (प्रथम-जम्) प्रथेरमच्। उ० ५। ६८। इति प्रथ ख्यातौ-अमच्+जनी-ड। प्रथमतो मातापितृगुरुकारिता-भ्यासत उत्पन्नम् (हि) खलु, यस्मात् कारणात् (एतत्) हिरण्यम् (यः) पुरुषः (बिभर्त्ति) भृञ् भरणधारणपोषणेषु-जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। धाति (दाक्षायणम्) म० १। बलस्य गतियुक्तम् परमोत्साहवर्धकम्

(वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अधि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं, (इव) जैसे (इन्द्रे) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिन्ह, [बड़े बड़े ऐश्वर्य] होते हैं । [इस लिये] (दक्षमाणः) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष (तत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (विभरत्) धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी, विक्रमी, तेजस्वी, गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानाम् । मासाम् । ऋतु-भिः । त्वा । वयम् । सम्-वत्सरस्य । पयसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ (तेजः) तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः, कान्तिः । रेतः, सारः । (ज्योतिः) १ । ६ । १ । प्रकाशः, कान्तिः (ओजः) म० २ । पराक्रमः (बलम्) म० १ सामर्थ्यम् । शौर्यम् (वनस्पतीनाम्) १ । १२ । ३ । वन+पतिः, सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पालकानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते=वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक (वीर्याणि) १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतांसि । (इन्द्रे) १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवति पुरुषे (इन्द्रियाणि) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ६३ । इन्द्र-घच् इन्द्रस्य लिङ्गानि चिन्हानि । परमैश्वर्याणि, धनादीनि (अधि) उपरि (धारयामः) स्थापयामः (अस्मिन्) पुरुषे (तत्) तस्मात् कारणात् (दक्षमाणः) दक्ष वृद्धौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः (बिभरत्) डुभृञ् धारणपोषणयोः-लेट् । धारयेत्, बिभर्तु (हिरण्यम्) म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (त्वा) तुझ को [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मासाम्) महीनों को (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पयसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि=पिपर्मः) पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुणयुक्त पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्ष का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

---

४—(समानाम्) षम वैक्लव्ये-पचाद्यच्। अविषमानाम्। पूर्णानाम्। साधूनाम्, अनुकूलानाम् (मासाम्) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति माङ् माने-असुन्। मासानाम् (ऋतुभिः) अर्त्तेश्च तुः। उ० १। ७२। इति ऋ गतौ-तु, स च कित्। वसन्तादिकालविशेषैः (त्वा) त्वाम्, पुरुषम्। (सम्-वत्सरस्य) संपूर्वाच्चित्। उ० ३। ७२। इति सम्+वस निवासे-सरन्, सस्य तकारः। संवसन्ति ऋतवो यत्र। वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य (पयसा) पय गतौ वा पीङ् पाने-असुन्। दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः (पिपर्मि) पॄ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः। एकवचनं बहुवचने। वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नी। यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये, य० २१। २०। इन्द्राग्नी=इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वाय्वाग्नी। तद्वद् गुणवन्तः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पुरुषाः (अनु मन्यन्ताम्) अनु+मन बोधे-लोट्। अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु (अहृणीयमानाः) कण्ड्वादिभ्यो यक्। पा० ३। १। २७। इति हृणीङ् रोषणे लज्जायां वैमनस्ये च-यक्। ङित्वाद् आत्मनेपदम्। ततः शानच्। हृणीयते=क्रुध्यति, निघ० २। १२। अक्रुध्यन्तः, असङ्कुचन्तः ॥

और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा इस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाड़ाधिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ १९६९ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-
श्रीराजराजेश्वर जार्जपञ्चम-
महोदयस्य सुसाम्राज्ये
सुसमाप्तिमगात् ॥

॥ ओ३म् ॥

नया आनन्द समाचार ॥

अथर्ववेद भाष्य और गोपथब्राह्मण भाष्य हिन्दी सहित छप गये। शीघ्र मंगाइये ॥

१—अथर्ववेद भाष्य-अथर्ववेद का अर्थ अभी तक यहां की किसी भाषा में न था, और संस्कृत में भी श्री सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से इस वेद का हिन्दी और संस्कृत प्रामाणिक भाष्य प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी का किया हुआ श्रीमान् राजाधिराज धीर-वीर-चिरप्रतापी श्री सयाजी राव गायकवाड़ बड़ोदाधीश, तथा श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभाओं संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रान्त तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की विशेष प्रचार सहायता से पूरा होकर छप गया।

इस वेद के बीसों काण्डों का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य विषय सूची, मन्त्रसूची, पदसूची, आदि सहित अल्प मूल्य में उपस्थित है। वेदप्रेमी महाशय सब स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और कागज़ देशी बढ़िया रायल अठपेजी है।

पुराने ग्राहक जिन के पास सब काण्ड नहीं हैं और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें, पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर शीघ्र छपना कठिन है। बोझ लगभग ६०० तोला वा ७॥ सेर है, रेल से मंगाने वाले महाशय रेलवे स्टेशन लिखें। पूरा भाष्य २३ भाग मूल्य ४७॥), वी० पी० व्यय ४ ।॥)

काण्ड	१ भूमिका सहित			२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।=)			१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)
काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	परिशिष्ट	मन्त्र सूची	पद सूची	योग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)	३।)	७।)	।≡)	१[illegible])	४)	४७॥)

२—गोपथब्राह्मण भाष्य—गोपथब्राह्मण अथर्ववेद का ब्राह्मण प्राचीन ग्रन्थ है। इसका अब तक न कोई भाष्य और न कोई अनुवाद है। अब परमात्मा

की कृपा से उक्त पण्डित जी ने अथर्ववेद भाष्य के समान इस ब्राह्मण का भाष्य सरल हिन्दी और संस्कृत में करके मूल ग्रन्थ, अनेक टिप्पणियों, व्याकरणादि प्रक्रियाओं, विनियोगीय मन्त्रों सहित प्रकाशित कर दिया है। सब स्त्री पुरुष इस ग्रन्थ के स्वाध्याय से आत्मोन्नति करें। इस ग्रन्थ को महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने सत्यार्थ प्रकाशादि पुस्तकों में वैदिक साहित्य के उपयोगी ग्रन्थों में माना है। पुस्तक थोड़े छपे हैं, ग्राहक महाशय शीघ्रता करें। छपाई उत्तम कागज़ देशी सफ़ेद बढ़िया रायल अठपेजी मूल्य ७।), वी० पी० व्यय ॥≡)

३–हवनमन्त्राः–धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक–चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल हिन्दी में शब्दार्थ सहित, गुरुकुलों, डी० ए० वी० कालिजों और स्कूलों में प्रचलित संशोधित।–), डाक महसूल –)

४–रुद्राध्यायः–प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत हिन्दी और अंग्रेज़ी में मूल्य ।=), डाक महसूल =)

५–रुद्राध्ययः–मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥, डाक महसूल)॥

६–वेदविद्यायें–कांगड़ी गुरुकुल में हिन्दी व्याख्यान। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन, मूल्य –)॥, डाक महसूल)॥

मार्गशीर्ष संवत् १९८२,
नोवेम्बर १९२५

पता–पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग।

Address—**Pt. Khem Karan Das Trivedi.**
52, LUKERGANJ, ALLAHABAD.

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्तावसंख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

लाο दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पंο क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उन से स्वीकार की जावें ॥

टिप्पणी—यह नियम बत्तीस महीने तक रहा ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ताο ४ जून १६१६ ईο के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पंο क्षेमकरणदास जी को देवे, जिस का बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

टिप्पणी—यह नियम चार वर्ष तक रहा ॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती अर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५६७६ प्राप्त २० जुलाई १६१६ ईο)

मान्यवर, नमस्ते ! ॥ ओ३म् ॥

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पंο क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने ख़ूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिस के कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उन के महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहियें

समाज के पुस्तकालयों में तो उन का रखना बहुत ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह, बी० एस सी० एलएल० बी० उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती **आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।**

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एलएल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पंडित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद, का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है। सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है। अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारो वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३

श्री० पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवसी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं। मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ

में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पत्तपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उनको बल तथा वेद सम्बन्धी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है ।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**-जिज्ञासु—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है ।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३ ।

अथर्ववेद भाष्य । श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है ।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे । अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं । आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं । आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है ।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद्, गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३ ॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है । इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्यसामाजि शैली का हुआ है । तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है । और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है ।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, ठिकाना हकीम देवी प्रसाद जी, १३७ अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५ ॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारो कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ । आप ने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं । आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा ।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ पाठान्तर टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उस की पूर्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपे मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद जी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा,** पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोहर तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहोर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पंडित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है-इसके अनुकूल श्री पंडितजी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं-पंडितजी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच काण्ड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बंधी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्यसमाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इस के ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।…………इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द… विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उन के पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है………त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें, किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan, Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gignatic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

The Atharva Veda Bhashya or commentary on the Atharva Veda, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the introduction and the First Kanda or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature. The arrangement is good, the original Mantra is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of Ashtadhyayi of Panini, Unadikosha of Dayanand, Nirukta of Yaska, Yoga Darshana of Patanjali and other standard ancient works......The pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B.—The printing and paper are good, price is moderate.